छिरके प्रश्नोत्तर मुक्तकर मुहम्मदपुरमाजरानिवासी पण्डित नन्द-लालजीसे उसकी सरल भाषाटीका बनवाकर मुक्त करदी है । आशा है कि इस पुस्तकको लोग अपने बालकोंको कण्ठ करादेंगे जिसने सदा नीतिके श्लोक उपस्थित रहनेसे उनको अपना कर्तव्य आयुष्यभर याद रहे और उसके अनुसार चलकर वह प्रत्येक कार्यमें लाभ उठावें ।

सज्जनोंका हितैषी,

खेमराज-श्रीकृष्णदास,



॥ श्रीः ॥

विदुरनीति

भाषाटीकासमेता प्रारभ्यते ।

अतःपरं प्रजागरपर्व

वैशंपायन उवाच ।

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् ॥ १ ॥

भजे सत्यं गुणातीतमनन्तं सदसदात्मकम् ।
यद्विज्ञापितो द्रुहिणो निगममाविरकार्षीत् ॥ १ ॥
अहो विनिर्ममे मन्दो भाषां विदुरनीतिके ।
कृपा श्रीवासुदेवस्य भक्तैः किंकिं न साधयेत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी महाराज राजा जनमेजयसे कहतेहुए–कि हे महाराज! जब कि संजय आज्ञा पाय चलेगये तब पृथ्वीपति अतिबुद्धिमान् धृतराष्ट्रजी द्वारपालसे बोले कि हे द्वारपाल! मैं विदुरजीको इस समय-

प्रहितो धृतराष्ट्रेण दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति ॥ २ ॥
एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।
अब्रवीद्धृतराष्ट्राय द्वाःस्थं मां प्रति वेदय ॥ ३ ॥

द्वाःस्थ उवाच ।

विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र तव शासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधि माम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

प्रवेशय महाप्रज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ॥ ५ ॥

देखना चाहताहूं उनको यहां शीघ्र ही ल्याइये ॥ १ ॥ उस समय धृतराष्ट्रजीकर भेजाहुआ वह दूत विदुरजीसे कहनेलगा, हे महाप्राज्ञ ! राजा धृतराष्ट्रजी महाराज इस समय तुमको देखना चाहतेहैं ॥ २ ॥ तब इसप्रकार कहेहुए विदुरजी राजमन्दिरको प्राप्त होकर द्वारपालसे कहनेलगे, हे द्वारपाल! आयेहुए मुझको धृतराष्ट्रजीके लिये जतादे ॥ ३ ॥ उस समय द्वारपाल जाकर धृतराष्ट्रसे कहनेलगा हे राजेन्द्र ! तुम्हारी आज्ञासे यह विदुरजी प्राप्त हुएहैं वह तुम्हारे चरणोंको देखना चाहतेहैं वह क्या करे वैसी मुझको आज्ञा करिये ॥ ४ ॥ तब धृतराष्ट्रजी बोले,

द्वाःस्थ उवाच ।

प्रविशांतःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहि ते दर्शनेऽकल्पो जातु राजाऽब्रवीद्धि माम्॥६॥

वैशंपायन उवाच ।

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
अब्रवीत्प्रांजलिर्वाक्यं चिंतयानं नराधिपम् ॥७॥
विदुरोऽहं महाप्राज्ञ संप्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किंचन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम्॥८॥

हे द्वारपाल ! दीर्घदर्शी बडे बुद्धिमान् विदुरजीका यहां प्रवेश कीजिये क्यों कि मैं इन विदुरजीके दर्शनमें कदाचित् भी-असमर्थ नहीं हों, अर्थात् इन विदुरजीका दर्शन सवकालमें चाहता हों ॥ ५ ॥ उस समय धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाय विदुरजीसे द्वारपाल कहताहुआ ! हे क्षत्तः! अर्थात् हे शूद्राके विषे क्षत्रियसे उत्पन्नहुए वीर श्रेष्ठबुद्धिवाले! महाराज धृतराष्ट्रके अन्तःपुरको प्रवेश कीजिये तुम्हारे दर्शनमे राजा कदाचित् भी असमर्थ नहीं है क्यों कि ऐसा वह मुझसे कहतेहुए ॥ ६ ॥ वैशंपायनजी बोले तदनन्तर धृतराष्ट्रके मन्दिरको प्रवेशकर हाथ जोडेहुए विदुरजी चिंतवन करतेहुए नृपति धृतराष्ट्रसे वाक्य बोले ॥ ७ ॥ हे महामाद्र! मैं विदुर हौं तुम्हारी आज्ञासे यहां प्राप्त हुआहूं

धृतराष्ट्र उवाच ।

संजयो विदुर प्राप्तो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति९॥
तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत्प्रजागरम्॥१०॥
जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ११॥

यदि जो कुछ करनेयोग्य है उसको मुझसे आज्ञा करिये में तुम्हारे प्रत्यक्ष यह विद्यमान हूँ ॥ ८ ॥ उस समय धृतराष्ट्रजी विदुरजीसे कहते हुए । हे विदुरजी ! बुद्धिमान् संजय यहां आया और हमारी निन्दा करके इस समय यहांसे गया है । कल्ह अजातशत्रु युधिष्ठिरके वाक्यको वह सभाके बीचमें कहेगा ॥ ९ ॥ इस समय उस कुरुवीर संजयका वाक्य मैंने विशेषकर नहीं जाना है वह वचन मेरे गात्रोंको जलारहा है. और वह ही वचन प्रजागर अर्थात् अनिद्राको करता-हुआ ॥१०॥ हे तात ! जागनेवाले मुझ जलतेहुएका जो कल्याण तुम देखते हौ यह मुझसे कहिये क्यों कि तुम धर्म अर्थके विषे

यतः प्राप्तः संजयः पांडवेभ्यो,
न मे यथावन्मनसः प्रशांतिः।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिं गतानि,
किं वक्ष्यतीत्येव मेऽद्य प्रचिंता ॥ १२ ॥

विदुर उवाच।

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम्।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशंति प्रजागराः॥१३॥
कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप।
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे ॥ १४ ॥

निपुण हो ॥ ११ ॥ पांडवोंसे विदा होकर जबसे कि संजय यहां प्राप्त हुआहै तबसे लेकर हमारे मनको यथोचित शान्ति नहीं हुईहै और मेरे समस्त इन्द्रियगण अप्रकृति अर्थात् असावधानता प्राप्त होगये हैं न जाने वह सजय क्या कहैगा यही मुझको इस समय अतिभारी चिन्ता है॥ १२ ॥ तब विदुरजी राजा धृतराष्ट्रसे कहनेलगे कि, जिसका साधन हीन हो गया है ऐसा दुर्बल बलवान्कर वादविवादको प्राप्त किया गया हो और जिसका धन किसीने छीनलिया हो और जो कामी हो और चोरी करता हो इनको अनिद्रा प्रवेश होवैहै अर्थात् इनको नींद नहीं आवै है॥ १३ ॥ क्या हे नराधिप। इन महा दोषोंनेतौ तुम नहीं स्पर्शकर लियेहौ?अथवा

धृतराष्ट्र उवाच ।

ोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः ।
अस्मिन् राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसंमतः॥१५॥

विदुर उवाच ।

राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत् ।
ेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
विपरीततरश्च त्वं भागधेये न संमतः ।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥ २ ॥

वया दूसरोंके धनोंमें कांक्षावाले हुएतो नहीं सतत होरहेहो ॥ १४ ॥ तब धृतराष्ट्रजी महाराज विदुरजीसे बोले हे विदुरजी ! तुम्हारे कल्याणकारक उत्तमधर्मयुक्त वचनोंको मैं सुनना चाहताहों । कारण कि तुम अकेले ही इस राजर्षिवंशके विषैं पण्डितोंके मान्य हो ॥ १५ ॥ उस समय विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रसे कहने लगे हे राजन् ! धृतराष्ट्र लक्षणयुक्तक्षत्रिय तीनों लोकोंका स्वामी होताहै सो प्रार्थनाकरनेयोग्य युधिष्ठिरजी तुमने वनको भेजदिये ॥१॥और तुम धर्मात्मा तथा धर्मके जाननेवाले भी हो तथापि नेत्रदृष्टिके दूरहोनेसे विपरीततर अर्थात्

आनृशंस्याद्नुक्रोशाद्धर्मात्सत्यात्पराक्रमात् ।
गुरुत्वात्त्वयि संप्रेक्ष्य बहून् क्लेशांस्तितिक्षते ३॥
दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा ।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि ॥ ४ ॥
आत्मज्ञानं समारंभस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
यमर्थान्नापकर्षंति स वै पंडित उच्यते ॥ ५ ॥
निषेवते प्रशस्तानि निंदितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्दधान एतत्पंडितलक्षणम् ॥१६॥

राज्यलक्षणहीन हो इसीकारण राज्यांशके विषे तुम योग्य नहीं ॥२॥ युधिष्ठिरजी महाराज अक्रूरता, दया, धर्म, सत्य, पराक्रमके कारण तथा तुम्हारे विषे गुरुभावके कारणसे जानकरके बहुतसे क्लेशोंको सहरहेहैं ॥ ३ ॥ दुर्योधन, सौबल, कर्ण और दुःशासन इनके विषे राज्यैश्वर्यको रखकर अर्थात् इनके अधीन होकर कैसे ऐश्वर्यकी तुम इच्छा करतेहो ॥ ४ ॥ आत्मज्ञान और समारम्भ और तितिक्षा और धर्मनित्यता यह जिसको पुरुषार्थसे नहीं खींचतेहैं वह निश्चय ही पण्डित कहाहै ॥ ५ ॥ जो कि श्रेष्ठ कर्मोंको सेवन करताहै और निन्दित कर्मोंको नहीं सेवन करता है और नास्तिक भी नहींहै और श्रद्धावान्है

क्रोधोहर्षश्च दर्पश्च ह्रीस्तंभो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नापकर्षंति स वै पंडित उच्यते ॥ १७ ॥
यस्य कृत्यं न जानंति मंत्रं वा मंत्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानंति स वै पंडित उच्यते ॥ १८ ॥
यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पंडित उच्यते ॥ १९ ॥
यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पंडित उच्यते ॥२०॥

यह ही पण्डितका लक्षण है ॥ १६ ॥ क्रोध और अहर्ष अर्थात् शोक और ह्रीस्तम्भ अर्थात् निर्लज्जता और आत्माको मान योग्य मानना यह जिसको अर्थसे नहीं खींचते हैं वह पंडित कहाहै ॥ १७ ॥ जिसके नहीं किये हुए कार्यको और सलाह किये हुए मंत्रको दूसरे जन नहीं जानतेहैं किन्तु जिसके किये हुए ही कार्यको जानतेहैं वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥ १८ ॥ जिसके कार्यको शीत, उष्ण, भय, मैथुन समृद्धि और असमृद्धि अर्थात् दरिद्रावस्था यह नहीं विघ्न करतेहैं वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥ १९ ॥ जिसकी बुद्धि संसार वर्तिनी हुई भी धर्म और अर्थको साधन करती है और जो कामसे

यथाशक्ति चिकीर्षंति यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किंचिदवमन्यंते नराः पंडितबुद्धयः ॥ २१ ॥

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति
विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासंपृष्टो व्युपयुंक्ते परार्थे
तत्प्रज्ञानं प्रथमं पंडितस्य ॥ २२ ॥

नाप्राप्यमभिवाञ्छंति नष्टं नेच्छंति शोचितुम् ।
आपत्सु च न मुह्यंति नराः पंडितबुद्धयः ॥२३॥

अर्थको श्रेष्ठ मानताहै वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥ २० ॥ जिनकी कि पंडितोंके समान बुद्धि है वह नर शक्तिके अनुसार ही कार्य करनेकी इच्छा करते हैं और शक्तिके अनुसार ही कार्यको करते हैं और न किसीको किंचिन्मात्र अवमान करते हैं ॥ २१ ॥ जो कि ज्ञानकी दृढताके लिये किसी वाक्यको बहुतकालतक सुनता है फिर सुनकर शीघ्र ही जानलेताहै फिर जानकरके अर्थको सेवन करताहै न कि इच्छासे और नहीं यथावत् पूछा हुआ जो दूसरेके अर्थ न कुछ कहताहै सो यह पंडितका प्रथम चिह्न है ॥ २२ ॥ जिनकी पंडितोंके समान बुद्धि है वह नर अप्राप्य पदार्थकी नहीं अभिलाषा करते हैं । और नष्ट हुए वस्तुके शोच करनेको नहीं इच्छा करते हैं ।

निश्चित्य यः प्रक्रमते नांतर्वसति कर्मणः ।
अवंध्यकालो वश्यात्मा स वै पंडित उच्यते॥२४॥
आर्यकर्मणि रज्यंते भूतिकर्माणि कुर्वते ।
हितं च नाभ्यसूयंति पंडिता भरतर्षभ ॥ २५ ॥
न हृष्यत्यात्मसंमाने नावमानेन तप्यते ।
गांगो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पंडित उच्यते॥२६॥
तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम् ।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पंडित उच्यते ॥२७॥

और आपदाओंके विषें नहीं मोहित होतेहैं ॥ २३ ॥ जो कि निश्चय करके कार्यको करता है और कार्यके मध्यमें नहीं निवृत्त होताहै अर्थात् बिना समाप्त हुए कार्यको नहीं छोडताहै और जिसका समय निष्फल नहीं जाताहै और जो वश्यात्मा अर्थात् जितेन्द्रिय रहताहै वह निश्चय ही पंडित कहाहै ॥ २४॥ हे भरतर्षभ ! पंडितजन शिष्टजनोंके योग्य कर्मके विषय अनुरक्त रहतेहैं और ऐश्वर्यके कर्म करते हैं और हित करनेवालेकी निन्दा नहीं करते हैं ॥ २५ ॥ जो कि अपने सम्मान होनेमें नहीं हर्षित होताहै और अपमानकर नहीं संतप्त होताहै किन्तु गंगाजीके ह्रदके समान सम्मान तथा अपमानका कारण होनेपर भी किसी प्रकार नहीं चलायमान होताहै वह पंडित कहाहै ॥ ॥ २६ ॥ सर्व प्राणियोंके तत्त्वको जाननेवाला और सर्व कर्मोंके

प्रवृत्तवाक् चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रंथस्य वक्ता च यः स पंडित उच्यते॥२८॥
श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असंभिन्नार्यमर्यादः पंडिताख्यां लभेत सः ॥२९॥
अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ इत्युच्यते बुधैः ॥३०॥

योग नाम रचना प्रकारको जाननेवाला और मनुष्योंके मध्यमें उपायको जाननेवाला नर पंडित कहाहै ॥ २७ ॥ प्रवृत्तवाक् अर्थात् जिसकी वाणी कहनेमें अकुंठित हो और जो चित्रविचित्र कथाओंके कहनेवाला हो और जो तर्कवाला हो और जो प्रतिभानवान् अर्थात् तत्काल ही स्फूर्तिवाला हो यानी जिसको तत्काल ही पूर्ववृत्तकी स्मृति होजावै और जो शीघ्रही शास्त्रके अर्थका कहनेवाला हो वह पंडित कहाहै ॥ २८ ॥ जिसका शास्त्र बुद्धिके अनुकूल है और जिसकी बुद्धि शास्त्रके अनुसार हो और जिसने शिष्टजनोंकी मर्यादा नहीं दूर की हो वह पंडित नामको प्राप्त होताहै ॥ २९ ॥ और जो कि शास्त्रहीन होकर सर्व कार्योंके करनेमें गर्वित है और दरिद्र होकर उदारचित्तवाला है और विना कर्मकर अर्थोंके प्राप्त करनेकी इच्छा

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्याचरति मित्रार्थे यश्च मूढः स उच्यते ॥ ३१ ॥
अकामान्कामयति यः कामयानान्परित्यजेत् ।
बलवंतं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३२ ॥
अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३३ ॥
संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढो भरतर्षभ ॥ ३४ ॥

करताहै वह पंडितोंने मूर्ख कहाहै ॥३० ॥ जो अपने अर्थको त्याग-कर दूसरेके अर्थको सेवन करता है और मित्रके अर्थ मिथ्या आच-रण करताहै वह भी मूढ कहाहै ॥ ३१ ॥ जो कि नहीं चाहनेवा-लोंको चाहताहै और अपने चाहनेवालोंको त्याग देताहै और बलवानसे द्वेष करताहै उसको पंडितजन मूढचेता कहतेहैं ॥ ३२ ॥ जो अमित्रको मित्र करताहै और मित्रसे वैर करताहै अथवा मित्रकी हिंसा करताहै और दुष्कर्मको आरम्भ करताहै उसको पंडित मूढचेता कहते हैं ॥३३॥ हे भरतर्षभ ! जो कि कार्योंको व्यर्थ ही विस्तार करताहै और सब जगह संशय करताहै और शीघ्र होनेवाले कार्यमें विलम्ब

श्राद्धं पितृभ्यो न ददाति दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३५ ॥
अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥३६॥
परं क्षिपति दोषेण वर्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः॥३७॥
आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ३८ ॥

करताहै वह मूढ है ॥ ३४ ॥ जो कि पित्रोंके अर्थ श्राद्ध नहीं अर्पण करताहै और देवताओंको नहीं पूजता है और सर्दैव सहायता करनेवाले मित्रको नहीं प्राप्त होताहै उसको पंडित मूढचेता कहते हैं ॥ ॥ ३५ ॥ जो कि विनाहीं बुलाया सभामें प्रवेश करताहै और विना ही पूछा हुआ बहुभाषण करताहै और अविश्वासीमें विश्वास करताहै वह अधम नर मूढचेता है ॥ ३६ ॥ जो कि स्वयं दोषसे वर्त्तमान होकर भी दूसरेको दोषयुक्त करताहै और जो आप असमर्थ होकर समर्थके लिये क्रोध करताहै वह नर अतिमूढ है ॥ ३७ ॥ अपने बलको न जानकर धर्म अर्थकर वर्जित अलभ्यवस्तुको विना कर्मकर

अशिष्यं शास्ति यो राजन्यश्च शून्यमुपासते ।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३९ ॥
अर्थं महांतमासाद्य विद्यामैश्वर्यमेव वा ।
विचरत्यसमुन्नद्धो यः स पंडित उच्यते ॥ ४० ॥
एकः संपन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम् ।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः॥४१॥
एकः पापानि कुरुते फलं भुंक्ते महाजनः ।
भोक्तारो विप्रमुच्यंते कर्ता दोषेण लिप्यते ॥४२॥

प्राप्त करना चाहताहै वह इसलोकमें पंडितोंने मूढ बुद्धि कहाहै॥३८॥ जो कि शिक्षायोग्य नहीं उसको शिक्षा करताहै और शून्य अर्थात् नहीं सेवन करनेयोग्यको जो कि सेवन करताहै और जो कि कृपणको सेवन करताहै हे राजन् ! उसको पण्डितजन मूढचेता कहतेहैं ॥ ३९ ॥ जो कि अत्यन्त धन वा विद्या ऐश्वर्यको पाय मदमत्त न होकर विचरता है वह पण्डित कहाहै ॥ ४० ॥ जो कि भृत्य, पुत्र, कलत्रादिकोंके लिये न बांटकर अकेला ही स्वादु पदार्थको भोजन करता है और अकेला ही सुन्दर वस्त्रोंको पहरताहै उससे अतिक्रूर कौन है अर्थात् कोई नहीं ॥४१॥ हे राजन् ! एक ही पाप करताहै और बहुतजन उन पापोंके फलोंको भोगते हैं । परन्तु भोगनेवाले

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता ।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम्॥४३॥
एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु ।
पंच जित्वा विदित्वा षट् सप्त हित्वा सुखी भव४४
एकं विषरसो हंति शस्त्रेणैकश्च वध्यते ।
सराष्ट्रं सप्रजं हंति राजानं मंत्रविप्लवः ॥ ४५ ॥

पापोंके दोषसे छूटजाते हैं और पाप करनेवाला पापोंके दोषसे लिप्त होजाताहै ॥ ४२ ॥ धनुषधारीका छोडाहुआ बाण अकेलेको मारे अथवा न मारे परन्तु बुद्धिमान् कर छोडीहुई अर्थात् अनिष्टके लिये विचारीहुई बुद्धि राजासहित देशको नाश करदेवै है ॥ ४३ ॥ हे राजन्! एक बुद्धिसे कार्य और अकार्य इन दोनोंको निश्चय कर साम, दान, दण्ड, भेद इन चारों उपायोंकर मित्र, उदासीन, शत्रु इन तीनोंको वशमे कीजिये और पांच इन्द्रियोंको जीतकर और अनिर्खोसेरन, द्यूतक्रीडा, अहेर खेलना, मदिरापान, खोटा वचन कहना, कठोरदण्ड,तथा वृथा धनदूषित करना इन सातोंको त्यागि और सन्धि, विग्रह, द्वैधीभाव, यान, आसन, और आश्रय इन छे गुणोंको जानिकर सुखयुक्त हूजिये ॥ ४४ ॥ जो कि पान करताहै उसीको विषरस मारसक्ताहै और शस्त्रसे अकेला ही माराजाता है परन्तु मन्त्र-

एकः स्वादु न भुंजीत एकश्चार्थान्न चिंतयेत् ।
एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्४६ ॥
एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नाववुध्यसे ।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव॥४७॥
एकः क्षमावतां दोषो द्वितीयो नोपपद्यते ।
यदेनं क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ४८ ॥
सोऽस्य दोषो न मंतव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमागुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा॥४९॥

विद्वध अर्थात् मन्त्रका न छिपावना देश, प्रजा, सहित राजाको मार-देता है ॥ ४५ ॥ अकेला ही स्वादु पदार्थको न भोजन करै और अकेला बहुत अर्थोंको न विचारै और अकेला मार्गको न चलै और बहुतसे सोतेहुओंमें अकेला न जागै ॥ ४६ ॥ जो कि एक अद्वितीय सत्य है उसको हे राजन् ! तुम नहीं जानतेहो जो स्वर्गके चढनेकी ऐसी सीढी है जैसे कि समुद्रके तैरनेकी नाव ॥ ४७ ॥ क्षमावालोंके मध्य एक ही दोष सिद्ध होताहै न कि दूसरा जो कि, इस क्षमायुक्त पुरुषको जन असमर्थ मानतेहैं ॥ ४८ ॥ वह इस क्षमायुक्तका दोष नहीं मानना चाहिये क्यों कि, क्षमा परम बल है दूसरा कारण यह

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ।
शांतिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ५०॥
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान्परं दोषैरात्मानं चैव योजयेत् ॥५१॥
एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शांतिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५२ ॥
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥५३॥

है कि, असमर्थोंका क्षमा गुण है समर्थोंका भूषण है ॥ ४९ ॥ संसारमें एक क्षमा ही वशीकरण है क्षमासे क्या नहीं सिद्ध होताहै ? किन्तु सब ही सिद्ध होजाताहै । जिसके हाथमें शान्तिरूप तलवार विद्यमान है उसका दुर्जन क्या करेगा ? अर्थात् दुर्जन उसका कुछभी नुकसान नहीं करसकेगा ॥ ५० ॥ जिस प्रकार कि तृणरहित स्थानमें गिराहुआ अग्नि स्वयं ही बुझजाताहै तिसी प्रकार क्षमावालेके आगे आयाहुआ दुर्जन शान्त होजाताहै और जो कि क्षमायुक्त नहीं है वह अपने उत्तम आत्माको भी दोषोंसे युक्त करदेता है ॥ ५१ ॥ एक ही धर्म परम कल्याणरूप है और एक ही क्षमा उत्तम शान्ति है और एक ही विद्या परम तृप्ति है और एक ही अहिंसा सुख देने-वाली है ॥ ५२ ॥ इन दोनोंको पृथिवी ग्रस लेतीहै । जिस प्रकार कि

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन् परुषं किंचिदसतोऽनर्चयंस्तथा ॥५४॥
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ५५
द्वाविमौ कंटकौ तीक्ष्णौ शरीरपरिशोषिणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः॥५६॥
द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारंभः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥५७॥

बिलमें शयन करनेवाले जन्तुको सर्प ग्रसलेता है । एक तो शत्रुओंके साथ नहीं विरोध करनेवाला राजाको और दूसरे प्रदेशमे नहीं रहनेवाला ब्राह्मणका ॥ ५३ ॥ दो कर्म करताहुआ नर इस लोकमें प्रकाशमान होताहै । एक तो किंचिन्मात्र भी कठोरवाक्य नहीं कहताहुआ और दूसरा असज्जनोंका नहीं सत्कार करताहुआ ॥५४॥ हे पुरुषव्याघ्र ! यह दो जन दूसरेकी प्रतीति करनेवाले होतेहैं । एक तो दूसरेके चाहेहुएकी इच्छा करनेवाली स्त्रिया और दूसरा औरोंके पूजितकी पूजा करनेवाला जन ॥ ५५ ॥ यह दो बडे तीक्ष्ण, शरीरके सुखानेवाले कण्टक हैं । एक तो वह जो कि निर्धन होकर मनोरथोंकी कामना करताहै और दूसरा वह जो कि निर्बल होकर क्रोध करताहै ॥ ५६ ॥ दो पुरुष विपरीत कर्म करकेनहीं विराजमान

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥५८॥
न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥५९॥
द्वावंभसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवंतमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६० ॥
द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र सूर्यमंडलभेदिनौ ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥६१॥

होतेहैं । एक तो विना उद्यमवाला गृहस्थ और दूसरा कार्य करनेवाला संन्यासी ॥ ५७ ॥ हे राजन् ! यह दो पुरुष स्वर्गके ऊपर विराजमान होतेहैं । एक तौ क्षमायुक्त सामर्थ्यवान् और दूसरा अतिदानी दरिद्रपुरुष ॥ ५८ ॥ न्यायसे प्राप्त हुए द्रव्यके दो उल्लंघन जाननेयोग्य हैं एक तौ अपात्रके अर्थ अर्पण करना और दूसरा पात्रके अर्थ न अर्पण करना ॥ ५९ ॥ दो पुरुष गलेमें दृढशिला बांधकर जलमें डुबाने योग्य है । एक तौ नहीं दान करनेवाला धनवान और दूसरा नहीं तपस्या करनेवाला दरिद्र ॥ ६० ॥ हे पुरुषव्याघ्र यह दो पुरुष सूर्यमण्डलके भेदन करनेवालेहैं अर्थात् मोक्षमार्गी हैं । एक तौ योगयुक्त

त्रयोपाया मनुष्याणां श्रूयंते भरतर्षभ ।
कनीयान्मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः॥६२॥
त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६३ ॥
त्रय एवाधना राजन् भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत्ते समधिगच्छंति यस्य ते तस्य तद्धनम्॥६४॥

संन्यासी और दूसरा संग्राममें सन्मुख मराहुआ वीर ॥ ६१ ॥ हे भरतर्षभ ! मनुष्योंके तीन उपाय सुने जातेहैं उनमें पहिला श्रेष्ठ, दूसरा मध्यम, तीसरा अधम है, ऐसा वेदवेत्ता कहते हैं जो कि श्रेष्ठ है वह साम है और जो कि मध्यम है वह दान तथा भेद है और जो कि निकृष्ट है वह युद्ध है ॥ ६२ ॥ हे राजन्! पुरुष भी तीन प्रकारके होतेहैं एक उत्तम दूसरा मध्यम, तीसरा अधम उनको तीनों प्रकारके कर्मोंके विषे जो जिसके योग्य है उसीमें नियुक्त करै । इस कथनसे विदुरजीने यह जनाया कि हे राजन्! तुम उपायज्ञ नहीं क्योंकि तुमने अधम शकुन्यादिकोंको उत्तम मंत्रियोंके कर्ममें नियुक्त किया है ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! स्वामीके विद्यमान होनेपर तीन अधन रहते हैं । एक तो स्त्री, दूसरा नौकर, और तीसरा पुत्र; जिस स्वामीके जिस धनको वह स्त्री, नौकर और पुत्र पाते हैं वह धन और

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम्।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥६५॥
त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्६६
वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत।
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम्६७

यह स्त्री, नौकर और पुत्र उस स्वामीके ही जो हैं भाव यह है स्वामीके विद्यमान रहनेपर स्वामीकी ही आज्ञासे स्त्री, पुत्र और नौकर धनके मालिक हो सक्ते हैं न कि स्वतंत्र होकर इस कथनसे विदुरजीने यह जनाया कि आप राज्य और अपने पुत्रादिकोंके स्वामी हैं इस कारण आप अपने पुत्रोंसे पाण्डवोंको राज्य दिला सक्ते हो। क्यों कि, आपके विद्यमान रहनेपर पुत्रादिक राज्यके स्वामी नहीं यह तो तब-तक ही मालिक रह सक्ते हैं जबतक कि आप उनसे लेनेकी कांक्षा नहीं करते ॥ ६४ ॥ दूसरेके धनोंका हरण करना, परस्त्रियोंका बलात्कारसे दूषित करना, मित्रजनोंका त्यागना यह तीनों दोष नाशकारक हैं ॥ ६५ ॥ आत्माके नाश करनेवाला यह नरकका तीन प्रकारका द्वार है एक काम, दूसरा क्रोध, तीसरा लोभ तिससे इन तीनोंको त्याग देवे ॥ ६६ ॥ वरदान पाना, राज्य करना, पुत्रजन्म

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेताञ्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न संत्यजेत् ६८॥
चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन,
वर्ज्यान्याहुः पंडितस्तानि विद्यात् ।
अल्पप्रज्ञैः सह मंत्रं न कुर्या-
न्न दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ६९ ॥

होनो ये तीनों आनन्दके कारण हैं परन्तु शत्रुके कष्टसे छूटना यह एक ही आनन्द उन तीनोंके समान है । कारण कि उन तीनोंके विषे इतना हर्ष नहीं होताहै ॥६७॥ जो कि अपना भक्त है और जो कि अपनी सेवा करता है और जो कि मैं तुम्हारा हूँ ऐसा कहता है इन शरण प्राप्त हुए तीनोंको संकटमें भी न त्यागै ॥६८॥ महाबली राजाके त्यागने योग्य जिन चारोंको नीतिवेत्ता कहते हैं उनको जो कि पण्डित है वह जानता है । एक तो थोडी बुद्धिवालोंके साथ दूसरे दीर्घसूत्र अर्थात् शीघ्रताके कार्यमें विलम्ब करनेवालोंके साथ तीसरे रभस अर्थात् विचारशून्योंके साथ, चौथे चारण अर्थात् वन्दी जनोंके अथवा रणविरोधीके साथ बैठकर राजा सलाह

चत्वारि ते तात गृहे वसंतु,
श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्य धर्मे।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्नः कुलीनः,
सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या॥ ७०॥
चत्वार्याह महाराज साद्यस्कानि बृहस्पतिः।
पृच्छते त्रिदशेंद्राय तानीमानि निबोध मे॥७१॥
देवतानां च संकल्पमनुभावं च धीमताम्।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम्॥७२॥

न करे॥ ६९॥ हे तात! लक्ष्मीसम्पन्न जो आप तिनके गृहस्थधर्मवाले घरमें चार निवास करें। एक तो स्वज्ञातिवृद्ध, दूसरा अवसन्न कुलीन, तीसरा दरिद्र सखा, चौथी विन सन्तानवाली बहनि कारण कि अपने ज्ञातिका वृद्ध कुलधर्मोको उपदेश करताहै। और अवसन्न सज्जन बालकोंको आचार शिखाता है। और दरिद्र सखा हितकी वार्ता कहता है। और विन सन्तानवाली बहनि गृहकार्योंको भलीप्रकार कराती है॥ ७०॥ हे महाराज! पूछनेवाले इन्द्रके अर्थ बृहस्पतिजी जिन चारोंको शीघ्र फलसाधक कहते हुए उनको मुझसे श्रवण करिये॥ ७१॥ एक तो देवताओंकी इच्छा, दूसरा बुद्धिमानोंका प्रभाव, तीसरा विद्यासम्पन्नजनोंका विनय, चौथा पापकर्मवा-

चत्वारि कर्माण्यभयंकराणि,
भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुतमानमौनं,
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७३ ॥
पंचाग्नयो मनुष्येण परिचार्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ॥ ७४ ॥
पंचैव पूजयँल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान्पितॄन्मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपंचमान् ॥ ७५ ॥

लोंका विनाश ॥ ७२ ॥ चार कर्म अभय करनेवाले हैं परन्तु यथावत न किये हुए भयको देते हैं एक तो मानपूर्वक अग्निहोत्र, दूसरा मान पूर्वक मौन, तीसरा मानपूर्वक अध्ययन, चौथा मानपूर्वक यज्ञ ॥ ॥ ७३ ॥ हे भरतर्षभ ! गृहाश्रित् मनुष्यको अतियत्नसे सदा ही अवश्य पांच पूजनेयोग्य हैं । एक पिता, दूसरी माता, तीसरा यज्ञाग्नि, चौथा आत्मा, पाचवाँ गुरु ॥ ७४ ॥ लोकमें जन पांचोंको पूजता हुआ यश पाता है । एक तो देवताओंको, दूसरे पित्रोंको, तीसरे मनुष्योंको, चौथे भिक्षुओंको, पांचवें अतिथियोंको ॥ ७५ ॥

पंच त्वानुगमिष्यंति यत्रयत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः॥७६॥
पंचेंद्रियस्य मर्त्यस्य च्छिद्रं चेदेकमिंद्रियम् ।
ततोऽस्य स्रवति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्॥७७॥
षड् दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता ।
निद्रा तंद्री भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता॥७८॥
षडिमान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ७९ ॥

हे राजन् ! जहां २ तुम जाओगे तहां २ पांच जन तुम्हारे पिछाडी चलैंगे । एक मित्र, दूसरे शत्रु, तीसरे मध्यस्थ, चौथे उपजीव्य वन्दीआदिक, पाँचवें उपजीवी सेवक आदिक ॥ ७६ ॥ पांच इन्द्रियवाले मनुष्यको यदि एक इन्द्रिय छिद्र होवे अर्थात् विषयासक्त होवे तो उसी इन्द्रियके विषयासक्त होनेसे उस मनुष्यकी बुद्धि भ्रष्ट होजावै है जिसप्रकार कि दृति नाम चर्मके बने हुए मशक नाम पात्रसे जल बह जावै है ॥७७॥ भूति नाम ऐश्वर्यके चाहनेवाले पुरुषको इस लोकमें छे दोष त्यागने चाहिये एक तो अति सोना, दूसरा निद्राश्रमादिके आलस्यसे युक्त रहना, तीसरा डरना, चौथा क्रोध, पांचवाँ आलस्य, छटा दीर्घ सूत्रता अर्थात् शीघ्रताके कार्यमें देर करना ॥ ७८ ॥ जिसप्रकार कि समुद्रके विषे टूटी हुई नावको त्याग

अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम्॥८०॥
षडेव तु गुणाः पुंसा न हातव्याः कदाचन ।
सत्यं दानमनालस्यमनसूया क्षमा धृतिः ॥८१॥
अर्थागमो नित्यमरोगिता च,
प्रिया च भार्या प्रियवादिनी च ।
वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन्॥८२॥

देतेहैं तिसी प्रकार इन छैओंको पुरुष त्याग देवै । एक तो अप्रवक्ता आचार्य, दूसरा नहीं वेदके पढनेवाला ऋत्विज ॥ ७९ ॥ तीसरा, नहीं रक्षा करनेवाला राजा, चौथी अप्रिय बोलनेवाली स्त्री, पांचवाँ ग्रामकी इच्छा करनेवाला गोपाल, छठा वनकी कामना करनेवाला नापित अर्थात् नाई ॥ ८० ॥ ये छै गुण कदाचित् भी पुरुषको नहीं त्यागने चाहिये । एक तो सत्य बोलना, दूसरा दान देना, तीसरा आलस्य युक्त न रहना, चौथा अनसूया अर्थात् दूसरेके गुणोंके विषैं दोषका आरोपण न करना, पांचवाँ क्षमा, छठा धैर्य ॥ ८१ ॥ हे राजन् ! धनकी प्राप्ति और नित्य ही नीरोग रहना, और प्रिय-

पडेते ह्यवमन्यंते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताःशिष्याःकृतदाराश्च मातरम्८७
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकांतारा आतुराश्च चिकित्सकम्८८

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः,
सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः ।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥८९॥

तो गोधन, दूसरी सेवा तीसरी खेती, चौथी भार्या, पांचवीं विद्या, छठी शूद्रसंगति ॥ ८६ ॥ पूर्व उपकार करनेवालेको यह छै निरादर करदेतेहैं । एक तो शिष्यजन शिक्षित होकर पढानेवाले आचार्यका निरादर करते हैं, दूसरे पुत्र कृतदार अर्थात् स्त्रीको प्राप्त होकर अपने पालनेवाली माताका निरादर करदेतेहैं ॥८७॥ तीसरे कामहीन होकर जन स्त्रीका निरादर करदेतेहैं, और चौथे सेवक कृतार्थ अर्थात् :कृतकार्य होकर स्वामीका निरादर करदेतेहैं, पांचवें जलसे उतरेहुए पथिकजन नावका निरादर करदेतेहैं, और छठे रोगी जन आरोग्य होनेपर वैद्यका निरादर करदेतेहैं ॥ ८८ ॥ हे राजन् ! रोगका न होना और

ईर्षुर्घृणी न संतुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ९० ॥
सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यंति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पंचमम् ।
महच्च दंडपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥

ऋणका न होना और परदेशमें निवास न होना, और सज्जनोंके साथ संगम और अपने अनुकूल जीविका यह छै जीवलोकके सुख हैं ॥ ॥ ८९ ॥ यह छै नित्य ही दुःखित रहते हैं । एक तो ईर्ष्या करनेवाला, दूसरा निर्दयी, तीसरा जो कि संतुष्ट न रहता हो, चौथा क्रोध करनेवाला, पांचवाँ सदा ही शंकायुक्त रहनेवाला, छठा दूसरेके भाग्यपर जीनेवाला ॥ ९० ॥ दुःखोंके उत्पन्न करनेवाले सात दोष राजाको सदा ही त्यागने चाहिये । जिन दोषोंसे कृतमूल अर्थात् पुष्टहुए जडवाले सामर्थ्यवान् भी नाशको प्राप्त होजाते हैं ॥ ॥ ९१ ॥ एक तो अति स्त्रीसेवन, दूसरा पाशाओंका खेलना, तीसरा अहेर खेलना, चतुर्थ मदिरापान, पांचवीं वचनकी कठोरता, छठी अति दण्डकी कठोरता, सातवाँ धनका दूषित करना ॥ ९२ ॥

पडेते ह्यवमन्यंते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताःशिष्याःकृतदाराश्च मातरम्८७
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकांतारा आतुराश्च चिकित्सकम्८८
आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः,
सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः ।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥८९॥

तो गोधन, दूसरी सेवा तीसरी खेती, चौथी भार्या, पांचवीं विद्या, छठी शूद्रसंगति ॥ ८६ ॥ पूर्व उपकार करनेवालेको यह छै निरादर करदेतेहैं । एक तो शिष्यजन शिक्षित होकर पढानेवाले आचार्यका निरादर करते हैं, दूसरे पुत्र कृतदार अर्थात् स्त्री को प्राप्त होकर अपने पालनेवाली माताका निरादर करदेतेहैं ॥८७॥ तीसरे कामहीन होकर जन स्त्रीका निरादर करदेतेहैं, और चौथे सेवक कृतार्थ अर्थात् कृतकार्य होकर स्वामीका निरादर करदेतेहैं, पांचवें जलसे उतरेहुए पथिकजन नावका निरादर करदेतेहैं, और छठे रोगी जन आरोग्य होनेपर वैद्यका निरादर करदेतेहैं ॥ ८८ ॥ हे राजन् ! रोगका न होना और

ईर्षुर्घृणी न संतुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः९०॥
सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः।
प्रायशो यैर्विनश्यंति कृतमूला अपीश्वराः॥ ९१॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पंचमम्।
महच्च दंडपारुष्यमर्थदूषणमेव च॥ ९२॥

ऋणग्रस्त न होना और परदेशमें निवास न होना, और सज्जनोंके साथ संगम और अपने अनुकूल जीविका यह छै जीवलोकके सुख हैं॥ ॥ ८९॥ यह छै नित्य ही दुःखित रहते हैं। एक तो ईर्ष्या करनेवाला, दूसरा निर्दयी, तीसरा जो कि सन्तुष्ट न रहता हो, चौथा क्रोध करनेवाला, पांचवाँ सदा ही शंकायुक्त रहनेवाला, छठा दूसरेके भाग्यपर जीनेवाला॥ ९०॥ दुःखोंके उत्पन्न करनेवाले सात दोष राजाको सदा ही त्यागने चाहिये। जिन दोषोंसे कृतमूल अर्थात् पुष्टहुए जड़वाले सामर्थ्यवान् भी नाशको प्राप्त होजाते हैं॥ ॥ ९१॥ एक तो अति स्त्रीसेवन, दूसरा पाशाओंका खेलना, तीसरा अहेर खेलना, चतुर्थ मदिरापान, पांचवीं वचनकी कठोरता, छठी अति दण्डकी कठोरता, सातवाँ धनका दूषित करना॥ ९२॥

षडेते ह्यवमन्यंते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्यं शिक्षिताःशिष्याःकृतदाराश्च मातरम् ८७
नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकांतारा आतुराश्च चिकित्सकम् ८८

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः,
सद्भिर्मनुष्यैः सह संप्रयोगः ।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासः
षड् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ॥८९॥

तो गोधन, दूसरी सेवा तीसरी खेती, चौथी भार्या, पांचवीं विद्या, छठी शूद्रसंगति ॥ ८६ ॥ पूर्व उपकार करनेवालेको यह छै निरादर करदेतेहैं । एक तो शिष्यजन शिक्षित होकर पढानेवाले आचार्यका निरादर करते है, दूसरे पुत्र कृतदार अर्थात् स्त्रीको प्राप्त होकर अपने पालनेवाली माताका निरादर करदेतेहैं ॥८७॥ तीसरे कामहीन होकर जन स्त्रीका निरादर करदेतेहैं, और चौथे सेवक कृतार्थ अर्थात् :कृतकार्य होकर स्वामीका निरादर करदेतेहैं, पांचवें जलसे उतरेहुए पथिकजन नावका निरादर करदेतेहैं, और छठे रोगी जन आरोग्य होनेपर वैद्यका निरादर करदेतेहैं ॥ ८८ ॥ हे राजन् ! रोगका न होना और

ईर्षुर्घृणी न संतुष्टः क्रोधनो नित्यशंकितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्यदुःखिताः ९० ॥
सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यंति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ९१ ॥
स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पंचमम् ।
महच्च दंडपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ९२ ॥

झगड़ा न होना और परदेशमें निवास न होना, और सज्जनोंके साथ संगम और अपने अनुकूल जीविका यह छै जीवलोकके सुख हैं ॥ ॥ ८९ ॥ यह छै नित्य ही दुःखित रहते हैं । एक तो ईर्ष्या करनेवाला, दूसरा निर्दयी, तीसरा जो कि संतुष्ट न रहता हो, चौथा क्रोध करनेवाला, पांचवाँ सदा ही शंकायुक्त रहनेवाला, छठा दूसरेके भाग्यपर जीनेवाला ॥ ९० ॥ दुःखोंके उत्पन्न करनेवाले सात दोष राजाको सदा ही त्यागने चाहिये । जिन दोषोंसे कृतमूल अर्थात् पुष्टहुए जडवाले सामर्थ्यवान् भी नाशको प्राप्त होजाते हैं ॥ ॥ ९१ ॥ एक तो अति स्त्रीसेवन, दूसरा पाशाओंका खेलना, तीसरा अहेर खेलना, चतुर्थ मदिरापान, पांचवीं वचनकी कठोरता, छटी अति दण्डकी कठोरता, सातवाँ धनका दूषित करना ॥ ९२ ॥

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान्प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणैश्च विरुध्यते ॥९३॥
ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निंदया चैषां प्रशंसां नाभिनंदति ॥ ९४ ॥
नैनान्स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान्दोषान्नरः प्राज्ञो बुध्येद्बुद्ध्वा विसर्जयेत्९५॥

नाशको प्राप्त होनेवाले नरके नाश होनेके पूर्व निमित्त आठ हैं प्रथम तौ जो कि ब्राह्मणोंसे वैर करताहै, दूसरा जिसने कि ब्राह्मणोंके साथ विरोध कियाहै ॥ ९३ ॥ तीसरा जो कि ब्राह्मणोंके धनोंको ग्रहण करता है, चौथा जो कि ब्राह्मणोके मारनेकी इच्छा करताहै, पाँचवाँ जो कि इन ब्राह्मणोंकी निन्दासे आनन्दित रहताहै, छटा जो कि इन ब्राह्मणोंकी प्रशंसाको नहीं अनुमोदित करताहै ॥ ९४ ॥ सातवाँ जो कि इन ब्राह्मणोंको कार्योंके विषे नहीं याद करता है, आठवाँ जो कि, स्वय ब्राह्मणोंकर याचना कियाहुआ उलटी ब्राह्मणोंकी निन्दा करताहै । इन दोषोंको पंडितजन जान लेवैं और जानकर त्याग देवैं ॥ ९५ ॥

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यंते तान्येव स्वसुखान्यपि॥९६॥
समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वंगः सन्निपातश्च मैथुने ॥ ९७ ॥
समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि॥९८ ॥
अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयंति
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ९९ ॥

हे भारत ! यह आठ माखनके सदृश सारभूत हर्षके कारण हैं । और यह ही आठ सदा वर्तमान हुए जिसमे दीखते हैं उसके निजसुखरूप हैं ॥ ९६ ॥ एक तो मित्रोंके साथ समागम होना, दूसरा धनका मिलना, तीसरा पुत्रके साथ मिलाप होना, चौथा मैथुनके समय सन्निपात, पांचवां समयके विषें प्रियवार्तालाप छठी स्वजातियोंमें उन्नति होनी, सातवां मनोरथका लाभ, आठवाँ मनुष्योंकी सभामें सत्कार ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ आठ गुण पुरुषको प्रकाशमान करते हैं । एक

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पंचसाक्षिकम् ।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वेद स परः कविः १००॥
दश धर्मं न जानंति धृतराष्ट्र निबोध तान् ॥
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रांतः क्रुद्धो बुभुक्षितः १०१॥
त्वरमाणश्च लुब्धश्च भीतः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पंडितः ॥ १०२ ॥

तो बुद्धि, दूसरी कुलीनता, तीसरा इन्द्रियोंका वशमें करना, चौथा शास्त्रश्रवण, पांचवां पराक्रम, छठा थोडा बोलना, सातवां शक्तिके अनुसार दान करना, आठवीं कृतज्ञता अर्थात् किसीका कियाहुआ उपकार जानना ॥ ९९ ॥ यह शरीररूप तो नौ दरवाजेवाला घर है, जिसमें अविद्या, काम, कर्म यह तीन धारण करनेवाले थून हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच साक्षी हैं, और यह क्षेत्रज्ञ आत्माकर अधिष्ठित है, इसको जो जानता है वह अत्युत्तम विद्वान् है ॥ १०० ॥ हे धृतराष्ट्रजी ! दश जन धर्मको नहीं जानतेहैं उनको श्रवण करिये । एक तो मदिरादिसे मतवाला हुआ, दूसरा प्रमत्त अर्थात् विषयासक्त होनेसे असावधान हुआ, तीसरा अपस्मारादिसे उन्मत्त, चौथा मार्गादिश्रमसे थकाहुआ, पांचवां क्रोधी, छठा भूखा ॥ १०१ ॥ सातवां भागताहुआ जानेवाला, आठवां लोभी, नवां

अत्रैवोदाहरंतीममितिहासं पुरातनम्।
पुत्रार्थमसुरेंद्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥ १०३ ॥
यः काममन्यू प्रजहाति राजा,
पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च।
विशेषविच्छुतवान् क्षिप्रकारी,
तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् ॥ १०४ ॥
जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्,
विज्ञातदोषेषु दधाति दंडम्।
जानाति मात्रां च तथा क्षमां च,
तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा ॥ १०५ ॥

भयभीत, दशवां कामी, यह दश यह हैं तिनसे धर्मके जाननेवाला पण्डित इन दशोंके विषे नहीं आसक्त होय ॥१०२॥ यहां इस पुरातन इतिहासको पूर्वाचार्य कहते हैं जो कि पुत्रके अर्थ असुरेन्द्र सुधन्वाने गान कियाहै ॥ १०३ ॥ जो कि राजा काम और क्रोधको त्यागताहै,और पात्रके विषें धनको स्थापित करता है,और विशेष ज्ञानवान् तथा शास्त्राभ्यासयुक्त है और कार्यको शीघ्रता करताहै उस राजाका सर्व जन प्रमाण करते हैं॥१०४॥ जो कि मनुष्योंका अपनेविषे

अनर्थकं विप्रवासं गृहेभ्यः,
पापैः संधिं परदाराभिमर्शम्।
दंभं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं,
न सेवते यश्च सुखी सदैव ॥ १०८ ॥
न संरंभेणारभते त्रिवर्ग-
माकारितः शंसति तत्त्वमेव।
न मित्रार्थे रोचयते विवादं,
नापूजितः कुप्यति चाप्यमूढः ॥ १०९ ॥

वैरी भी पराजित होतेहैं ॥ १०७ ॥ जो कि निरर्थक गृहोंसे परदेश निवास नहीं करताहै और पापीदुर्जनोंके साथ सलाह नहीं करताहै, और परस्त्रियोंका बलात्कारसे स्पर्श नहीं करताहै, और कपट तथा चोरी और पिशुनता तथा मदिरापानको नहीं सेवन करताहै वह सदा ही सुखी रहताहै ॥ १०८ ॥ जो कि क्रोधसे युक्त होकर त्रिवर्ग नाम धर्म, अर्थ, कामको नहीं आरम्भ करताहै, और किसीकर किसी विषयमें पूंछाहुआ यथोचित तत्त्ववचन कहताहै और मित्रके अर्थ विवाद नहीं इच्छा करताहै और सत्कारको न प्राप्त होकर भी किसी

न योऽभ्यसूयत्यनुकंपते च,
न दुर्बलः प्रातिभाव्यं करोति ।
नात्याह किंचित् क्षमते विवादं,
सर्वत्र तादृग्लभते प्रशंसाम् ॥ ११० ॥
यो नोद्धतं कुरुते जातु वेषं,
न पौरुषेणापि विकत्थतेऽन्यान् ।
न मूर्च्छितः कटुकान्याह किंचि-
त्प्रियं सदा तं कुरुते जनो हि ॥ १११ ॥

पर नहीं क्रोधित होताहै वह विद्वान् है ॥ १०९ ॥ जो किसीको भी नहीं निन्दित करताहै किन्तु सर्वकाल दया ही करतारहता है और आप निर्बल होकर किसीके साथ विरोध नहीं करताहै और किसीसे किंचिन्मात्र भी नहीं कठोर वचन कहताहै और विवादको शान्त करदेताहै तादृश वह पुरुष सब जगह प्रशंसा पाताहै ॥ ११० ॥ जो कि कदाचित् भी उद्धत अर्थात् भयंकर अथवा अपने अयोग्य वेषको नहीं करताहै, और पुरुषार्थकर औरोंको बुरा नहीं कहताहै और मूर्च्छित हुआ भी किसीसे किंचिन्मात्र कटुक वचन नहीं कहताहै उसको

न वैरमुद्दीपयति प्रशांतं,
न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं,
तमार्यशीलं परमाहुरार्याः ॥ ११२ ॥
न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं,
नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुते च तापं,
स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः ॥ ११३ ॥

जन अपना प्रिय करलेतेहैं ॥ १११ ॥ जो कि प्रशान्त नाम निवृत्तहुए वैरको फिर नहीं उठाताहै और न गर्वपर आरूढ होता है अर्थात् गर्व नहीं करता है और न दुर्गतिको प्राप्त होगयाहूँ ऐसा मानकर नहीं करनेयोग्य कर्मको नहीं, करताहै उसको आर्यजन अतिश्रेष्ठ कहतेहैं ॥ ११२ ॥ जो कि अपने सुखके विषे हर्षको नहीं करताहै और दूसरेके दुःखके विषेंभी हर्षित नहीं होताहै और देकरके पीछे सन्ताप नहीं करताहै वह संसारमें सज्जन और

देशाचारान्समयान् जातिधर्मान्,
बुभूषते यः स-परावरज्ञः ।
स यत्र तत्राभिगतः सदैव,
महाजनस्याधिपत्यं करोति ॥ ११४ ॥
दंभं मोहं मत्सरं पापकृत्यं,
राजद्विष्टं पैशुनं पूगवैरम् ।
मत्तोन्मत्तैर्दुर्जनैश्चापि वादं,
यः प्रज्ञावान् वर्जयेत्स प्रधानः ॥ ११५॥
दानं मोहं दैवतं मङ्गलानि,
प्रायश्चित्तान् विविधाँल्लोकवादान् ।

आर्यशील कहाजाताहै ॥ ११३ ॥ जो कि देशानुसार आचार और समयानुसार जातिधर्मोंको विभूषित करताहै वह ही परावरज्ञ अर्थात् विद्वान् और वह जहाँ जाताहै तहाँ ही महात्माजनोंका आधिपत्य करता है अर्थात् महात्मा जनोंका अधिपति होताहै॥११४॥ दम्भ और विषयादिकोंमें मोह तथा ईर्षा और पापकर्म तथा राजासे वैरभाव और चुगली तथा बहुतोंसे वैर और मतवाले तथा पागल और दुर्जनोंके साथ विवाद इनको जो बुद्धिमान् त्याग देवै वह श्रेष्ठ है ॥ ११५ ॥ दान और मोह अर्थात् प्रीति और दैवतकर्म तथा मंगल-

एतानि यः कुरुते नैत्यकानि,
तस्योत्थानं देवता राधयंति ॥ ११६ ॥
समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः,
समैः सख्यं व्यवहारं कथां च ।
गुणैर्विशिष्टांश्च पुरो दधाति,
विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः ॥११७॥
मितं भुंक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो,
मितं स्वपित्यमितं कर्म कृत्वा ।
ददात्यमित्रेष्वपि याचितः सं-
स्तमात्मवंतं प्रजहत्यनर्थाः ॥ ११८ ॥

कार्य और प्रायश्चित्त तथा तरह २ के लोकव्याद इनको नित्य ही जो करता है उसके उद्योगका देवता आराधन करते है ॥ ११६ ॥ जो कि समानोंके साथ विवाह और समानोंके साथ ही मित्रता और व्यवहार तथा कथाको करता है और अपनेमें जो कि हीन है उनके साथ नहीं करता है और गुणोंमें विशेष हुए जनोंको सर्वकार्यमें अगाड़ी रख लेता है उस पण्डितकी नीति भलीप्रकार प्राप्त की हुई है ॥ ११७ ॥ जो कि अपने आश्रित स्त्री, पुत्र, नौकर आदिके लिये

चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य,
नान्ये जनाः कर्म जानंति किंचित् ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च,
नाल्पोऽप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ११९ ॥
यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः,
सत्यो मृदुर्मानकृच्छुद्धभावः ।
अतीव स ज्ञायते ज्ञातिमध्ये,
महामणिर्जात्य इव प्रसन्नः ॥ १२० ॥

बांटकर प्रमाणिक भोजन करता है और और अप्रमाणिक कर्म करके प्रमाणिक ही सोवता है और याचना किया हुआ शत्रुओंके लिये भी दान देताहै उस आत्मवान् पण्डितको अनर्थ त्यागजातेहैं ॥ ॥ ११८ ॥ जिस कर्मके करनेकी इच्छा हो और जो कि कर्म थोडासा होकर बिगड गया हो । उस कर्मको जिसके अन्यजन किंचिन्मात्र भी नहीं जानते हैं और जिसका भलीप्रकार अनुष्ठित हुआ मन्त्र अर्थात् सलाह गुप्त रहता है उसका अल्पमात्र भी कोई अर्थ नहीं खण्डित होताहै ॥ ११९ ॥ जो कि समस्तप्राणियोंके शान्त करनेमें प्रवेश रहता है और सत्य होकर सर्वसमयमें वर्तता है और कोमल

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः,
स सर्वलोकस्य गुरुर्भवत्युत ।
अनंततेजाः सुमनाः समाहितः,
स तेजसा सूर्य इवावभासते ॥ १२१ ॥
वनेजाताः शापदग्धस्य राज्ञः,
पांडोः पुत्राः पंच पंचेंद्रकल्पाः ।
त्वयैव बाला वर्धिताः शिक्षिताश्च,
तवादेशं पालयंत्यांबिकेय ॥ १२२ ॥

स्वभाव होकर सबका सम्मान करता है और शुद्धभाव सदा रहता है वह ज्ञातिवालोंके मध्यमें अतीव उत्तम जाना गया है । जिस प्रकार कि उत्तम स्थानमें उत्पन्न हुआ महामणि अन्यमणियोंके मध्य शुभ जानाजाता है ॥ १२० ॥ दूसरोंकर अपना दोष न ज्ञान होनेपर भी जो कि केवल आत्मा ही कर किसी दोषसे होताहै अत्यन्त लज्जित होताहै वह नर समस्त लोकका गुरु होता है । और जो कि अनन्त-तेजवाला होकर अतिमनस्वी और सावधान रहता है वह तेजकर सूर्यके समान प्रकाशमान होता है ॥ १२१ ॥ हे आम्बिकेय ! जो कि शापसे दग्ध हुए पाण्डुके पांच इंद्रके समान वनमें उत्पन्न हुए पाचो बालक पुत्र तुमने ही बढाये और पढाये हैं वह तुम्हारी आज्ञाका

प्रदायैषामुचितं तात राज्यं;
सुखी पुत्रैः सहितो मोदमानः ।
न देवानां नापि च मानुषाणां,
भविष्यसि त्वं तर्कणीयो नरेंद्र ॥ १२३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ [१]

पालन कर रहे हैं ॥ १२२ ॥ इस कारण हे तात ! इनको यथोचित राज्य देकर-पुत्रोंसहित प्रमोदित हुए सुखी हूजिये । ऐसा करनेसे हे नरेन्द्र ! तुम फिर न देवताओंके और न मनुष्योंके शङ्काकरने योग्य होवोगे ॥ १२३ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वविदुरनीतिवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंसपण्डित-मह्लसेनात्मजकालीरामविरचित-भाषाटीकायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥ [१]

धृतराष्ट्र उवाच ।

जाग्रतो दह्यमानस्य यत्कार्यमनुपश्यसि ।
तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥ १ ॥
त्वं मां यथावद्विदुर प्रशाधि,
प्रज्ञापूर्वं सर्वमजातशत्रोः ।
यन्मन्यसे पथ्यमदीनसत्त्व,
श्रेयस्करं ब्रूहि तद्वै कुरूणाम् ॥ २ ॥
पापाशङ्की पापमेवानुपश्यन्,
पृच्छामि त्वां व्याकुलेनात्मनाहम् ।

इसके अनन्तर धृतराष्ट्रजी महाराज फिर विदुरसे कहते हुए। हे तात ! जागनेवाले मुझ चिन्ताग्निसे जलतेहुएके करनेयोग्य जिस कर्मको आप देखते हो उसको मुझसे कहिये । क्यों कि, तुम धर्म और अर्थ इन दोनोंके विषे चतुर हो ॥ १ ॥ हे विदुरजी ! आप मुझको बुद्धिपूर्वक यथोचित शिक्षा करेंगे । और अजातशत्रु युधिष्ठिरको भी समस्त चेष्टित जताइये हे अदीनात्मन् ! जो कि कौरवोंका हित और कल्याणकारक उपाय मानते हो वह मुझसे कहिये ॥ २ ॥ पापकी शङ्का करनेवाला मैं पापकोही देखता हूं । इसकारण व्याकुल

कवे तन्मे ब्रूहि सर्वं यथाव-
न्मनीषितं सर्वमजातशत्रोः ॥ ३ ॥

विदुर उवाच ॥

शुभं वा यदि वा पापं द्वेष्यं वा यदि वा प्रियम्।
अपृष्टस्तस्य तद्ब्रूयाद्यस्य नेच्छेत्पराभवम् ॥४॥
तस्माद्वक्ष्यामि ते राजन् हितं यत्स्यात्कुरून्प्रति।
वचः श्रेयस्करं धर्म्यं ब्रुवतस्तन्निबोध मे ॥ ५ ॥
मिथ्योपेतानि कर्माणि सिध्येयुर्यानि भारत ।
अनुपायप्रयुक्तानि मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ ६ ॥

आमाकर मे तुमसे पूछता हौं । हे कवे ! वह समस्त मुझसे यथावत् कहिये, जो कि युधिष्ठिरका वांछित है ॥ ३ ॥ तब इतना वचन सुन विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रजीसे कहने लगे । हे महाराज ! या तौ शुभ हो वो अशुभ हो या प्रिय हो अथवा अप्रिय हो वह बिना पूछा हुआ भी उससे कह देवै जिसका कि पराजय नहीं चाहता हो ॥ ४ ॥ तिससे हे राजन् ! तुमसे वह धर्मयुक्त कल्याणकारक वचन कहूँगा जो कि कौरवोंके प्रति हितकारक हो । अब मुझ कहनेवालेसे श्रवण करिये ॥५॥ हे भारत ! जो कि कर्म कपटयुक्त और असत् उपायोंसे

तथैव योगविहितं यत्तु कर्म न सिध्यति ।
उपाययुक्तं मेधावी न तत्र ग्लपयेन्मनः ॥ ७ ॥
अनुबंधानपेक्षेत सानुबंधेषु कर्मसु ।
संप्रधार्य च कुर्वीत न वेगेन समाचरेत् ॥८॥
अनुबंधं च संप्रेक्ष्य विपाकं चैव कर्मणाम् ।
उत्थानमात्मनश्चैव धीरः कुर्वीत वा न वा ॥ ९ ॥
यः प्रमाणं न जानाति स्थाने वृद्धौ तथा क्षये ।
कोशे जनपदे दंडे न स राज्येऽवतिष्ठते ॥ १० ॥

सयुक्तहुए सिद्ध होतेहै उनमे तुम अपना चित्त कदाचित् भी न करिये॥६॥ जो कि कर्म यत्नमे रचाहुआ और उपायसे युक्त होकर भी न सिद्ध होवै तो उसमें बुद्धिमान् नर चित्तको न बिगाडै ॥ ७ ॥ प्रयोजनयुक्त कर्मोंके विषै प्रयोजनोंकी ही अपेक्षा करै और विचार करके कर्मोंको करै और शीघ्रताके साथ कर्मोंका प्रारम्भ न करै ॥ ८ ॥ प्रथम तौ प्रयोजन फिर कर्मोंका फल तत्पश्चात् अपना उद्यम अर्थात् करनेकी शक्ति इनको देखकर चतुर धीरजन कर्मोंको करै और इनको न देखकर नहीं करै॥९॥जो कि स्थिति और वृद्धि और क्षय और कोश और देश तथा दण्ड इनके विषै प्रमाणको नहीं जानता है वह राज्यके

यस्त्वेतानि प्रमाणानि यथोक्तान्यनुपश्यति ॥
युक्तो धर्मार्थयोर्ज्ञाने स राज्यमधिगच्छति॥११॥
न राज्यं प्राप्तमित्येव वर्तितव्यमसांप्रतम् ।
श्रियं ह्यविनयो हंति जरारूपमिवोत्तमम् ॥१२॥
भक्ष्योत्तमप्रतिच्छन्नं मत्स्यो बडिशमायसम् ।
लोभाभिपाती ग्रसते नानुबंधमवेक्षते ॥ १३ ॥
यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रस्यं ग्रस्तं परिणमेच्च यत् ।
हितं च परिणामे यत्तदाद्यं भूतिमिच्छता ॥१४॥

विषै नहीं स्थित रहताहै ॥ १० ॥ जो कि धर्म, अर्थ और ज्ञानके विषैं युक्तहुआ इन कहेहुए प्रमाणोंको यथावत् जानता है वह राज्यको अधिगत होताहै ॥ ११ ॥ प्राप्तहुआ राज्य अयोग्यताके साथ नहीं वर्तना चाहिये क्यों कि, अविनय राज्यलक्ष्मीको शीघ्र ही नाश कर देवे है जिस प्रकार कि उत्तम रूपको जरा (वृद्धावस्था) बिगाड देती है ॥ १२ ॥ जो कि देखनेमे उत्तम हो और परिणाममें बुरा हो ऐसे कर्मके करनेमें प्रयोजन नहीं देखताहै, वह भ्रष्ट होजाताहै । जिस प्रकार कि उत्तम भक्षणयोग्य पदार्थसे ढकेहुए लोहके बने बडिशको लोभाभिपातीहुई मछली निगलजाती है और उसमे प्रयोजनको नहीं देखती है ॥ १३ ॥ जो कि भोज्य जननेके योग्य होय और जो

वनस्पतेरपक्वानि फलानि प्रचिनोति यः ।
स नाप्नोति रसं तेभ्यो बीजं चास्य विनश्यति १५
यस्तु पक्वमुपादत्ते काले परिणतं फलम् ।
फलाद्रसं स लभते बीजाच्चैव फलं पुनः १६ ॥
यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान्मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥१७ ॥
पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत् ।
मालाकार इवारामे न यथाङ्गारकारकः ॥ १८॥

कि अंतादृशा परिणामको प्राप्त होजावे और जो कि परिणाममें भी हितकारक हो वह भोज्य ऐश्वर्य चाहनेवालेको भोजन करनेयोग्य है ॥ ॥ १४ ॥ जो कि वृक्षके नहीं पकेहुए फलोंको इकट्ठा करताहै वह उन फलोंसे रसको भी नहीं प्राप्त होताहै और उसका बीज भी नष्ट होजाताहै ॥ १५ ॥ जो कि समयपर परिणामको प्राप्त हुए पके फलोंका ग्रहण करता है वह उस फलसे रसको प्राप्त होताहै और फिर उस फलके बीजसे फलको प्राप्त होताहै ॥ १६ ॥ जिसप्रकार कि भ्रमर फूलोंकी रक्षा करताहुआ मधुको ग्रहण करताहै तिसी प्रकार मनुष्योंसे अहिंसाकर ही अर्थोंका ग्रहण करै ॥ १७ ॥ जिस प्रकार कि माली बागमें फूल फलोंको ग्रहण करताहै और वृक्षके जडका छेदन

किन्नु मे स्यादिदं कृत्वा किन्नु मे स्यादकुर्वतः ।
इति कर्माणि संचिंत्य कुर्याद्वा पुरुषो न वा ॥१९॥
अनारभ्या भवंत्यर्थाः केचिन्नित्यं तथाऽगताः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद्येषु निरर्थकः ॥ २० ॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छंति षंढं पतिमिव स्त्रियः ॥२१॥

नहीं करना है तिसी प्रकार राजा भी अपने राज्यमें प्रजाओंसे अर्थका ग्रहण करे और उन प्रजाओंका नाश न करे । और जिस प्रकार कि अगारकारक अर्थात् काष्ठजलानेवाला वृक्षके जड़को छेदन करताहै और उसके पत्रपुष्पादिको नहीं ग्रहण करताहै तिस प्रकार राजाको प्रजाका छेदन न करना चाहिये ॥ १८ ॥ इस कर्मको करके मुझको क्या शुभ अशुभ फल होगा अथवा इस कर्मको न करके मुझको क्या शुभ अशुभ फल न होवैगा ऐसा विचारकर कर्मोंको करै और बिना विचारे कर्म न करे ॥ १९ ॥ जो कि कोई एक अर्थ किसी प्रकार भी सर्वत्र नहीं प्राप्त होसक्ते है वह नहीं आरम्भ करनेयोग्य हैं जैसे कि मवलोंसे वैर आदि करना कारण कि ऐसे जिन कार्योंके विषे जो पुरुषार्थ कियाजाता है वह पुरुषार्थ उन कार्योंके विषे निष्फल होजाता है ॥ २० ॥ जिसकी प्रसन्नता भी निष्फल हो और क्रोध भी

काश्चिदर्थान्नरः प्राज्ञो लघुमूलान्महाफलान् ।
क्षिप्रमारभते कर्तुं न विघ्नयति तादृशान्॥२२ ॥
ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुषानुपिबन्निव ।
आसीनमपि तूष्णीकमनुरज्यंति तं प्रजाः॥२३॥
सुपुष्पितः स्यादफलः फलितः स्याद्दुरारुहः ।
अपक्वः पक्वसंकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित्२४॥

निष्फल हो उसको लोक अपना स्वामी करना नहीं इच्छा करतेहैं । जिस प्रकार कि स्त्रियाँ नपुंसकको पति करना नहीं इच्छा करती हैं॥ ॥ २१ ॥ जिनकी जड तो अल्प हो और फल अधिक हो ऐसे जो कोई एक कार्य है उनके करनेको बुद्धिमान नर शीघ्र ही आरम्भ करै किन्तु ऐसे कर्मोंके करनेमें विघ्न न करै ॥२२ ॥ जो कि नेत्रोंसे मानों सब लोकोंको पीताहुआ सरलतापूर्वक देखता है वह यदि मौन होकर भी बैठा हो तथापि उसका समस्त प्रजा अनुराग करती है । भाव यह है कि, जो अपनी दृष्टिमात्रसे ही सबको प्रसन्न करता है वह यदि न भी बोले तब भी उससे प्रजा प्रीति करती है ॥ २३ ॥ जिस प्रकार कि कोई वृक्ष सुन्दर २ फूलोंसे तो युक्त रहताहै परन्तु फलोंसे युक्त नहीं रहताहै तिसी प्रकार कोई जन केवल वचनादिकोंसे भी प्रीतिको दिखाते हैं पर धनादिकोंको नहीं देते और जिस प्रकार

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम् ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनुप्रसीदति २५॥
यस्मात्त्रस्यंति भूतानि मृगव्याधान्मृगा इव ।
सागरांतामपि महीं लब्ध्वा स परिहीयते ॥२६॥
पितृपैतामहं राज्यं प्राप्तवान्स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्रमिवासाद्य भ्रंशयत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥

कि कोई वृक्ष फलोंसे युक्त रहताहै पर सुखकर चढने योग्य नहीं होता किन्तु दुःखकर चढनेयोग्य होताहै । तिसीप्रकार कोई जन धनादि तो देतेहैं पर सुखाराध्य नहीं होते किन्तु दुराराध्य होतेहैं और जिस प्रकार कि कोई नहीं पकाहुआ फल पकेहुएके समान दीखता हुआ कदाचित् नहीं विशीर्ण होताहै तिसी प्रकार कोई निर्बलीजन बलीके समान भीतर बाहिरसे शक्तिको दिखाताहुआ नहीं भ्रष्ट होताहै ॥२४॥ जो कि नेत्र,मन, वाणी और कर्म इनसे चारों तरह लोकको प्रसन्न करता है उसपर लोक प्रसन्न होताहै ॥ २५ ॥ जिस प्रकार मृगके सिकारीसे मृग डरतेहैं तिसी प्रकार जिससे प्राणी डरतेहैं वह समुद्रपर्यन्त पृथ्वीको पाकर भी भ्रष्ट होजाताहै ॥ २६ ॥ वह अपने पूर्वार्जित कर्मसे पितृ पितामहके राज्यको प्राप्त होकर अनीतिमें स्थित हुआ नाश करदेताहै जिस प्रकार कि पवन बादलोंको प्राप्त होकर नाश

धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः ।
वसुधा वसुसंपूर्णा वर्धते भूतिवर्धनी ॥ २८ ॥
अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठतः ।
प्रतिसंवेष्टते भूमिरग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥
य एव यत्नः क्रियते परराष्ट्रविमर्दने ।
स एव यत्नः कर्तव्यः स्वराष्ट्रपरिपालने ॥ ३० ॥
धर्मेण राज्यं विंदेत धर्मेण परिपालयेत् ।
धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥ ३१ ॥

करदेवैहै ॥ २७ ॥ धर्म और शिष्टजनोंके आचरण कियेहुए वृत्तोंको आदिसे सेवन करतेहुए राजाका ऐश्वर्य बढानेवाली द्रव्योंसे परिपूरित हुई पृथ्वी बढती है ॥ २८ ॥ और धर्मके त्यागनेवाले और अधर्मके सेवन करनेवाले राजाकी पृथिवी संकुचित होजातीहै अर्थात् बढ्कर-त्को नही देतीहै । जिस प्रकार कि अग्निमें रक्खाहुआ चर्म संकुचित होजाताहै ॥ २९ ॥ जो कि यत्न वैरीके राज्यके मर्दन करनेमें किया जाता है यह ही यत्न अपने राज्यकी रक्षा करनेमें करना चाहिये ॥ ॥ ३० ॥ जब कि धर्मसे राज्यको प्राप्त होता है तो धर्मसे ही राज्यकी रक्षा करै । कारण कि धर्म है मूल जिसकी ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त

अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्यादश्मभ्य इव कांचनम् ॥ ३२॥
सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
संचिन्वन्धीर आसीत शिलाहारी शिलं यथा ३३
गन्धेन गावः पश्यंति वेदैः पश्यंति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यंति राजानश्चक्षुर्भ्यामितरे जनाः॥३४॥
भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदंत्यपि ॥ ३५ ॥

होकर फिर उस लक्ष्मीको नहीं त्यागसक्ता है और न वह लक्ष्मीकर त्यागाजाता है ॥ ३१ ॥ अनर्थवाक्य कहनेवाले उन्मत्त और वृथाबकतेहुए बालकसे भी सबप्रकारसे सारवार्ताको ग्रहण करलेवे जिसप्रकार कि पत्थरोंके मध्यसे खोजकर सुवर्ण ग्रहण कियाजाता है ॥ ३२ ॥ इधर उधरसे भलीप्रकार कहेहुए सुन्दर २ हितकारक वाक्योंको संचय करताहुआ धीरजन स्थित होवै जिस प्रकार कि शिल बिननेवाला शिलको एक २ बिनता हुआ स्थित होताहै॥३३॥ गौ आदि पशु गन्धसे देखते हैं और ब्राह्मण वेदोंकर देखते है और राजा सदेश देनेवाले दूतोंके द्वारा देखते हैं और नेत्रोंसे अन्यजन देखते हैं ॥ ३४ ॥ हे राजन् ! जो कि गौ दुःखकर दूहनेयोग्य होवै

यदतप्तं प्रणमति न तत्संतापयंत्यपि ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत्संतापयंत्यपि ॥ ३६ ॥
एतयोपमया धीरः संनमेत बलीयसे ।
इंद्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥
पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मंत्रिबांधवाः ।
पतयो बांधवाः स्त्रीणां ब्राह्मणा वेदबांधवाः ॥३८॥
सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३९ ॥

है पढ़ना बड़ेश पावनी है । और जो कि सुखपूर्वक दुहेजानेवाली होवै है उसको कोई जन नहीं व्यथित करताहै ॥ ३५ ॥ जो कि नहीं संतप्त कियाहुआ ही नम्र होजाताहै उसको कोई जन नहीं संतप्त करताहै जिसप्रकार कि जो काष्ठ स्वय ही नवाहुआ है उसको कोई भी नहीं नवाता है ॥ ३६ ॥ इस उपमाकर धीरजन बलवान्के लिये नमजावै जो कि बलवान्के लिये नमता है वह साक्षात् इंद्रकेलिये नमजाता है । इस कथनसे यह जानागया कि जो बलीके अर्थ नम्र होताहै उसपर इंद्र प्रसन्न होकर उसका कल्याण करता है ॥ ३७ ॥ पशुओंके रक्षक मेघ है और राजाओंके सहायक मंत्री हैं और स्त्रियोंके बान्धव पति हैं और ब्राह्मणोंके बान्धव वेद हैं ॥ ३८ ॥ सत्यसे

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्च स्त्रियो रक्ष्याः कुचेलतः॥४०॥
न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अंतेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥४१॥
य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये ।
सुखसौभाग्यसत्कारे तस्य व्याधिरनंतकः ॥४२॥

धर्मकी रक्षा होवैहै और अभ्याससे विद्याकी रक्षा होवैहै और मार्जनोद्वर्त्तनादि शुद्धिसे रूपकी रक्षा होवैहै और शुभ आचारसे कुलकी रक्षा होवैहै ॥ ३९ ॥ तोल मापसे धान्य रक्षित रहताहै और अनुक्रम नाम चलाना फिराना आदि घोडोंकी रक्षा करताहै। और बारबारका देखना गौओंकी रक्षा करता है और मलीन तथा कुत्सित वस्त्रोंसे स्त्रियां रक्षित रहती है ॥ ४० ॥ मेरा विचार तो ऐसा है कि आचारवर्जित जनका कुल प्रमाण नहीं होताहै कारण कि नीचकुलमें उत्पन्न हुए जनोंका भी आचार ही कुलसे विशेष होताहै भाव यह है कि जो आचारसे भ्रष्ट है उनका कुल यदि उत्तम हो तब भी माननीय नहीं। और जो कि आचारसे युक्त है वह यदि नीचकुलमें भी जन्मे हों तब भी माननीय है ॥ ४१ ॥ जो कि दूसरोंके धनोंमें तथा रूप, वीर्य, कुल, सुख, सौभाग्य,

अकार्यकारणाद्भीतः कार्याणां च विवर्जनात् ।
अकाले मन्त्रभेदाच्च येन माद्येन्न तत्पिबेत् ॥४३॥
विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः ।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥४४ ॥
असंतोभ्यर्थिताः सद्भिः कचित्कार्ये कदाचन ।
तावन्न तस्य सुकृतं किंचित्कार्यं कदाचन ।
मन्यंते संतमात्मानमसंतमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥

सत्कार्यमें ईर्षा करताहै उसको यह व्याधि विद्यमान रहताहै जिसका कि कभी अन्त नहीं होता ॥ ४२ ॥ हे राजन् ! नहीं करने योग्य कार्यके करनेसे और करनेयोग्य कार्यके त्यागनेसे और असमयमें मंत्र-भेदसे अर्थात् कार्यके न सिद्ध होनेसे पूर्व ही मन्त्रके प्रकट होजानेसे भयभीत रहे । और जिसके पान करनेसे मदको प्राप्त होजावे उसको नहीं पान करै ॥ ४३ ॥ एक विद्यामद, दूसरा, धनमद, तीसरा परिवार-मदयह मद है, गर्वियोंके यह तीनों मद है और सज्जनोंके यह तीनों दम हैं । भाव यह है कि यह तीनों मद गर्वियोंके विषे विद्यमान हुए अर्थात् गर्वको प्रकाशित करते हैं और सज्जनोंके विषे विद्यमानहुए अर्थात् सज्जनताको प्रकाशित करते हैं ॥ ४४ ॥ कदाचित् किसी कार्यमें सज्जनोंकर असज्जन प्रार्थना किये जावें तो वह असज्जन चाहे

गतिरात्मवतां संतः संत एव सतां गतिः ।
असतां च गतिः संतो न त्वसंतः सतां गतिः ४६
जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ४७
शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बंधुभिः ४८॥

कार्य तौ न करसकें पर तब भी सज्जनोंकी प्रार्थनामात्रसे अपने असत् आत्माको अच्छा मानते हैं ॥ ४५ ॥ ज्ञानवान् जनोंकी गति सज्जन होतेहैं और सज्जन ही सज्जनोंकी गति होवे है। और असज्जनोंकी गति भी सज्जन होते हैं परन्तु सज्जनोंकी गति असज्जन नहीं होतेहैं ॥ ४६ ॥ सभा वस्त्रवालेसे पराजित होवे है और मिष्ट २ भोजनादिकोंकी आशा गोरखनेवालेसे पराजित होवेहै। और मार्ग सवारीवाले जनसे पराजित होताहै और जो कि शीलवान् है उससे सब पराजित होताहै अर्थात् शीलवान् सबको जीतलेता है ॥ ४७ ॥ पुरुषमें शील प्रधान है पर शील जिसका इसलोकमें नष्ट होजाताहै उसका अर्थ न जीवनमे और न

आढ्यानां मांसपरमं मध्यानां गोरसोत्तरम् ।
तैलोत्तरं दरिद्राणां भोजनं भरतर्षभ ॥ ४९ ॥
संपन्नतरमेवान्नं दरिद्रा भुंजते सदा ।
क्षुत्स्वादुतां जनयति सा चाढ्येषु सुदुर्लभा॥५०॥
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।
जीर्यंत्यपि हि काष्ठानि दरिद्राणां महीपते॥५१॥
अवृत्तिर्भयमंत्यानां मध्यानां मरणाद्भयम् ।
उत्तमानां तु मर्त्यानामवमानात्परं भयम् ॥५२॥

भनसे न बन्धुओंमे होताहै ॥ ४८ ॥ हे भरतर्षभ ! धनवानोंका भोजन वह होताहै जिसमे मांस अधिक हो और मध्यम जनोंका भोजन वह होताहै जिसमे गोरस नाम दूध, घृत, दध्यादिक, बहुत हों और दरिद्रजनोंका भोजन वह होताहै जिसमें तैल अधिक हो ॥ ॥ ४९ ॥ दरिद्रजन सदा केवल अन्नको ही अतिस्वादुपूर्वक भोजन करते है कारण कि क्षुधा उस अन्नके भोजन करनेमे उनको जैसी स्वादुता उत्पन्न करती है वैसी धनवानोंके लिये दुर्लभ होयेहै॥५०॥ हे महीपते ! संसारमें बहुधा लक्ष्मीवानोंको भोजन करनेकी शक्ति नहीं होयेहै पर दरिद्रजनोंके पेटमें भोजन कियेहुए काष्ठ भी पचजातेहैं ॥ ॥ ५१ ॥ अधम या दरिद्रजनोंको जीविकाके न होनेका भय होताहै

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादांता हयाः पथि कुसारथिम् ६०॥
अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इंद्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१॥
धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिंद्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२॥

रथ है और आत्मा सारथि है और इंद्रिय घोडे हैं उनको वशमे किये हुए इन्द्रियरूपघोडोंकर सावधानहुआ कुशलयुक्त धीरजन इसप्रकार संसारमे विचरता है जिस प्रकार रथी अच्छीतरह वशमें कियेहुए श्रेष्ठ घोडाओंकर मार्गमें चलताहै ॥ ५९ ॥ यह नहीं वशमें कियेहुए ही इंद्रियरूप घोडा आत्माके नाश करदेनेको समर्थ भी होसक्तेहैं । जिसप्रकार कि नहीं शिखलाये हुए और नही वशमे कियेहुए घोडे मार्गमे सारथिको पटक देतेहैं ॥ ६० ॥ जो कि नहींजीते हुए इंद्रियोंसे पराजितहो अनर्थको अर्थ कर देखता और अर्थको अनर्थ कर देखताहुआ दुःखको सुख मानताहै वह मूर्ख है ॥ ६१ ॥ जो कि धर्म और अर्थ इन दोनोंको त्यागकर इन्द्रियोंके वशमें चलता है वह लक्ष्मी और प्राण और धन तथा स्त्रियोंसे शीघ्र

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिंद्रियाणामनीश्वरः ।
इंद्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भ्रश्यते हि सः ॥ ६३॥
आत्मनात्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धींद्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः॥६४॥
बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बंधुः स एव नियतो रिपुः॥६५॥
क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुंपतः॥६६॥

ही भ्रष्ट होजाताहै ॥ ६२ ॥ जो कि अर्थोंका तो स्वामी है पर इन्द्रियोंका स्वामी नहीं है वह इन्द्रियोंका स्वामी न होनेसे ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होजाताहै भाव यह है कि ऐश्वर्य पाकर जो कि अपने इंद्रियोंको वशमें नहीं रखताहै वह इसी दोषकर ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होजाताहै ॥६३॥ आत्माकर रोकेहुए मनबुद्धि और इंद्रियोंसे आत्माको अपने वशीभूत करै यह आत्मा ही आत्माका बन्धु और आत्मा ही आत्माका शत्रु है ॥६४॥जिस आत्माकर आत्मा जीतागया है उसी आत्माका आत्मा बन्धु है और जिस आत्माकर आत्मा नहीं जीतागयाहै उसी आत्माका आत्मा शत्रु है इस कारण आत्मा ही अपना नियत बन्धु और आत्मा ही अपना नियत शत्रु है ॥ ६५ ॥ जिसप्रकार कि जालकर फँसे-

एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादांता हयाः पथि कुसारथिम् ६०॥
अनर्थमर्थतः पश्यन्नर्थं चैवाप्यनर्थतः ।
इंद्रियैरजितैर्बालः सुदुःखं मन्यते सुखम् ॥ ६१॥
धर्मार्थौ यः परित्यज्य स्यादिंद्रियवशानुगः ।
श्रीप्राणधनदारेभ्यः क्षिप्रं स परिहीयते ॥ ६२॥

रथ है और आत्मा सारथि है और इंद्रिय घोडे हैं उनको वशमे किये हुए इन्द्रियरूपघोडोंकर सावधानहुआ कुशलयुक्त धीरजन इसप्रकार संसारमे विचरता है जिस प्रकार रथी अच्छीतरह वशमें कियेहुए श्रेष्ठ घोडाओंकर मार्गमे चलताहै ॥ ५९ ॥ यह नहीं वशमे कियेहुए ही इंद्रियरूप घोडा आत्माके नाश करदेनेको समर्थ भी होसक्तेहैं । जिसप्रकार कि नहीं शिखवाये हुए और नहीं वशमें कियेहुए घोडे मार्गमे सारथिको पटक देतेहैं ॥ ६० ॥ जो कि नहींजीते हुए इंद्रियोंसे पराजितहो अनर्थको अर्थ कर देखता और अर्थको अनर्थ कर देखताहुआ दुःखको सुख मानताहै वह मूर्ख है ॥ ६१ ॥ जो कि धर्म और अर्थ इन दोनोंको त्यागकर इन्द्रियोंके वशमें चलता है वह लक्ष्मी और प्राण और धन तथा स्त्रियोंसे शीघ्र

अर्थानामीश्वरो यः स्यादिंद्रियाणामनीश्वरः ।
इंद्रियाणामनैश्वर्यादैश्वर्याद्भ्रश्यते हि सः ॥ ६३॥
आत्मनात्मानमन्विच्छेन्मनोबुद्धींद्रियैर्यतैः ।
आत्मा ह्येवात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः॥६४॥
बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बंधुः स एव नियतो रिपुः॥६५॥
क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन् क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुंपतः॥६६॥

ही भ्रष्ट होजाताहै ॥ ६२ ॥ जो कि अर्थोंका तो स्वामी है पर इन्द्रियोंका स्वामी नहीं है वह इन्द्रियोंका स्वामी न होनेसे ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होजाताहै भाव यह है कि ऐश्वर्य पाकर जो कि अपने इंद्रियोंको वशमें नहीं रखताहै वह इसी दोषकर ऐश्वर्यसे भ्रष्ट होजाताहै ॥६३॥ आत्माकर रोकेहुए मनबुद्धि और इंद्रियोंसे आत्माको अपने वशीभूत करे यह आत्मा ही आत्माका बन्धु और आत्मा ही आत्माका शत्रु है ॥६४॥जिस आत्माकर आत्मा जीतागया है उसी आत्माका आत्मा बन्धु है और जिस आत्माकर आत्मा नहीं जीतागयाहै उसी आत्माका आत्मा शत्रु है इस कारण आत्मा ही अपना नियत बन्धु और आत्मा ही अपना नियत शत्रु है ॥ ६५ ॥ जिसप्रकार कि जालकर फँसे-

समवेक्ष्येह धर्माथौं संभारान् योऽधिगच्छति ।
स वै संभृतसंभारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥
यः पंचाभ्यंतराञ्शत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवंति तम् ६८॥
दृश्यंते हि महात्मानो बध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इंद्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः॥६९॥
असंत्यागात्पापकृतामपापां-
स्तुल्यो दंडः स्पृशते मिश्रभावात् ।

हुए दो महत् मछली थोडेसे ही छिद्रकर जालको काटदेते है तिसी प्रकार हे राजन् ! काम और क्रोध यह दोनों बुद्धिके थोडेसे छिद्रमात्रकर महत् ज्ञानको लोप करदेतेहै ॥ ६६ ॥ जो कि यहां धर्म और अर्थ इन दोनोंको देखकर साधनोंको प्राप्त होताहै वह संचितसाधनोंवाला निरन्तर सुख पातारहता है ॥ ६७ ॥ जो कि मन है प्रधान जिनमें ऐसे भीतरके पांचों इंद्रियरूप शत्रुओंको न जीतकर अन्यशत्रुओंको जीतना चाहताहै उसको वह शत्रु ही पराजित करदेतेहैं ॥ ॥ ६८ ॥ जिसप्रकार कि अपने कर्मोंसे बंधेहुए महात्मा जन दीखतेहैं तिसी प्रकार इन्द्रियोंके बशमें न करनेसे राज्य विभ्रमोंकर बंधेहुए राजा लोग दीखतेहैं॥६९॥पापकर्म करनेवालोंका त्यागन करनेसे किन्तु

शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावा-
त्तस्मात्पापैः सह संधिं न कुर्यात् ॥ ७० ॥
निजानुत्पततः शत्रून्पंच पंचप्रयोजनान् ।
यो मोहान्न विगृह्णाति तमापद् ग्रसते नरम् ॥ ७१ ॥
अनसूयार्जवं शौचं संतोषः प्रियवादिता ।
दमः सत्यमनायासो न भवंति दुरात्मनाम् ७२ ॥
आत्मज्ञानमनायासस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।
वाक् चैव गुप्ता दानं च नैतान्यंत्येषु भारत ७३ ॥

इनके साथ मिलनेसे अपापियोंको भी पापियोंके समान दण्ड स्पर्श करताहै । जिसप्रकार कि सूखे ईंधनके साथ मिलनेसे गीला ईंधन जल-जाता है । तिसकारण पापियोंके साथ सलाह न करें ॥ ७० ॥ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध यह पांच विषय जिनके ऐसे नहीं वशमें रहनेवाले पांच इंद्रियरूप शत्रुओंको जो मोहसे नहीं रोकसक्ताहै उस नरको आपदा ग्रसती है ॥ ७१ ॥ अनसूया नाम दूसरोंके गुणोंमें दोष न लगाना और आर्जव नाम कोमल स्वभाव होना और शौच नाम पवित्र रहना और सन्तोष और प्रिय बोलना और दम नाम इन्द्रियोंका रोकना और सत्य तथा अनायास नाम स्थिरता यह गुण दुरात्माओंमें नहीं होतेहैं ॥ ७२ ॥ हे भारत ! आत्मज्ञान और

आक्रोशपरिवादाभ्यां विहिंसंत्यबुधा बुधान् ।
वक्ता पापमुपादत्ते क्षममाणो विमुच्यते ॥ ७४ ॥
हिंसा बलमसाधूनां राज्ञां दंडविधिर्बलम् ।
शुश्रूषा तु बलं स्त्रीणां क्षमा गुणवतां बलम् ७५ ॥
वाक्संयमो हि नृपते सुदुष्करतमो मतः ।
अर्थवच्च विचित्रं च न शक्यं बहुभाषितुम् ७६॥

स्थिरता और सहनशील होना और सदैव धर्मका बनारहना और गुप्तभाषण और दान यह गुण नीचजनोंमें नहीं होतेहैं ॥ ७३ ॥ आक्रोश नाम कठोर बोलना और परिवाद नाम निन्दा इन दोनोंसे मूर्खजन पण्डितोंकी हिंसा करतेहैं । पर कठोर वचन और निन्दाके कहनेवाला ही पापको ग्रहण करता है और सहनेवाला उस पापसे छूटजाता है ॥ ७४ ॥ असाधु नाम दुरात्माओंका बल हिंसा है और राजाओंका बल दण्डविधि है और स्त्रियोंका बल शुश्रूषा है और गुणवानोंका बल क्षमा है ॥ ७५ ॥ हे नृपते! संसारमें वचनका रोकना ही अत्यन्त दुष्कर मानागया है जो कि वचन अर्थसे युक्त और भावसे विचित्र है वह बहुत बोलनेको नहीं समर्थ होसक्ते हैं॥ ७६॥

अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।
सैव दुर्भाषिता राजन्ननर्थायोपपद्यते ॥ ७७ ॥
रोहते सायकैर्विद्धं वनं परशुना हतम्।
वाचा दुरुक्तं बीभत्सं न संरोहति वाक्क्षतम्॥७८॥
कर्णिनालीकनाराचा निर्हरंति शरीरतः।
वाक्शल्यस्तु न निर्हर्तुं शक्यो हृदिशयो हि सः॥७९
वाक्सायका वदनान्निष्पतंति,
यैराहतः शोचति राज्यहानि।

हे राजन्! सुन्दर प्रकार कही हुई वाणी विविधकल्याणको प्राप्त करती है। और वह ही वाणी कठोरतापूर्वक कहीहुई अनर्थके लिये प्राप्त होयहै ॥ ७७ ॥ बाणोंसे विदीर्ण कियाहुआ शरीर फिर भरआताहै और कुल्हाडीसे काटाहुआ वन फिर जमआता है पर वाणीसे कठोर कहना रूप भयकर वाणीका घाव फिर नहीं भरता है ॥ ७८ ॥ कर्णी और नालीक और नाराच संज्ञक लगेहुए बाणोंको फिर मारनेवाला शरीरमे निकालसक्ता है परन्तु वाणीरूप बाण फिर निकालनेको नहीं समर्थ होताहै। क्योंकि वह वाणीरूप बाण मरण-पर्यन्त हृदयमें ही सोता है ॥ ७९ ॥ वाणीरूप बाण मुखमें इसप्रकार

परस्य नाममर्मसु ते पतंति,
तान्पंडितो नावसृजेत्परेभ्यः ॥ ८० ॥
यस्मै देवाः प्रयच्छंति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्पंति सोऽवाचीनानि पश्यति८१॥
बुद्धौ कलुपभूतायां विनाशे प्रत्युपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ८२ ॥
सेयं बुद्धिः परीता ते पुत्राणां भरतर्पभ ।

निकलते हैं जिनकर ताड़ाहुआ जन रात्रिदिन शोच करताहै और वह दूसरेके मर्मस्थलोंके व्यतिरिक्त और जगह नहीं गिरतेहैं किन्तु मर्मस्थलोंके विषे ही गिरतेहैं इसकारण उन वाणीरूप वाणोंको पण्डितजन दूसरोंके लिये न छोड़ै ॥ ८० ॥ जिस पुरुषके लिये देवता पराजय देतेहैं उसकी बुद्धिको खींचलेतेहैं वह फिर बुद्धि हरजानेपर नीचकर्मोंको ही देखताहै ॥ ८१ ॥ विनाशके उपस्थित होनेपर बुद्धि मलीन होजातीहै उस समय नीतिके समान अनीति उसके हृदयसे नहीं निकलती है । भाव यह है कि जिससमय विनाशकाल आता है उस समय बुद्धि मन्द होजातीहै और बुद्धिकेमन्द होनेपर नीति उसके हृदयमें नहीं रहतीहै किन्तु अनीति स्थित रहती है ॥ ८२ ॥ हे भरतर्षभ ! सो यह ही बुद्धि तुम्हारी भी पुत्र और

पांडवानां विरोधेन न चैनानवबुध्यसे ॥ ८३ ॥
राजा लक्षणसंपन्नस्त्रैलोक्यस्यापि यो भवेत् ।
शिष्यस्ते शासिता सोऽस्तु धृतराष्ट्र युधिष्ठिरः ८४
अतीव सर्वान्पुत्रांस्ते भागधेयपुरस्कृतः ।
तेजसा प्रज्ञया चैव युक्तो धर्मार्थतत्त्ववित् ॥ ८५ ॥
अनुक्रोशादानृशंस्याद्योऽसौ धर्मभृतां वरः ।
गौरवात्तव राजेंद्र बहून्क्लेशांस्तितिक्षति ॥ ८६ ॥
इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरनीतिवाक्ये चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥ [२]

पाण्डवोंके विरोधसे आकर प्राप्त हुईहै । इसको तुम नहीं जानते हो ॥ ॥ ८३ ॥ जो कि लक्षणोंसे युक्त होताहै वह ही तीनों लोकोंका राजा होसक्ता है । इस कारण हे धृतराष्ट्रजी ! तुम्हारे शिष्य यह युधिष्ठिरजी पृथिवीके शासन करनेवाले होवैं ॥ ८४ ॥ वह युधिष्ठिरजी तुम्हारे समस्त पुत्रोंके प्रति राज्यके भागमें मुख्य होवैं क्यों कि वह तेज और बुद्धिसे युक्त और धर्म अर्थके तत्त्वके जाननेवाले हैं ॥ ८५ ॥ हे राजेन्द्र ! जो कि धर्मधारियोंके मध्यमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर हैं वह दया और अक्रूरता तथा तुम्हारे गौरवसे बहुतसे क्लेशोंको सहतेहैं ॥ ८६ ॥
इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये श्रीपाट-
कवंशावतंस--पण्डितमंगलसेनात्मजकालीरामविरचितभाषाटी-
काके चतुस्त्रिंशोऽध्यायः । ३४ [२]

धृतराष्ट्र उवाच ।
ब्रूहि भूयो महाबुद्धे धर्मार्थसहितं वचः ।
शृण्वतो नास्ति मे तृप्तिर्विचित्राणीह भाषसे॥१॥
विदुर उवाच ।
सर्वतीर्थेषु वा स्नानं सर्वभूतेषु चार्जवम् ।
उभे त्वेते समे स्यातामार्जवं वा विशिष्यते॥२॥
आर्जवं प्रतिपद्यस्व पुत्रेषु सततं विभो ।
इह कीर्तिं परां प्राप्य प्रेत्य स्वर्गमवाप्स्यसि॥३॥

इसके अनन्तर धृतराष्ट्रजी महाराज विदुरजीसे फिर कहतेहुए हे महाबुद्धे ! धर्म,अर्थ,सहित वचन फिर कहिये क्यों कि तुम्हारे वाक्यके सुनते २ मेरी तृप्ति नहीं होवे है कारण कि आप विचित्र वचन कहते हो ॥१॥ तब विदुरजी महाराज फिर राजा धृतराष्ट्रसे कहनेलगे । हे राजन् ! एक तो समस्त तीर्थोंमें स्नान करना, दूसरा समस्त प्राणियोंमें आर्जव अर्थात् विषमता न करना यह दोनों समान है । पर समस्त तीर्थोंके स्नानसे समस्त प्राणियोंमें विषमता न करना ही श्रेष्ठ है॥२॥ इससे हे विभो ! अपने पुत्रोंके विषैं और पांडवोंमें सदा ही आर्जव अर्थात् समताको प्राप्त हूजिये । समता करनेसे इस लोकमें परमकीर्ति

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य पुण्या लोके प्रगीयते ।
तावत्स पुरुषव्याघ्र स्वर्गलोके महीयते ॥ ४ ॥
अत्राप्युदाहरंतीममितिहासं पुरातनम् ।
विरोचनस्य संवादं केशिन्यर्थे सुधन्वना ॥ ५ ॥
स्वयंवरे स्थिता कन्या केशिनी नाम नामतः ।
रूपेणाप्रतिमा राजन् विशिष्टपतिकाम्यया ॥ ६ ॥
विरोचनोऽथ दैतेयस्तदा तत्राजगाम ह ।
प्राप्तुमिच्छंस्ततस्तत्र दैत्येंद्रं प्राह केशिनी ॥ ७ ॥

पाय मरकर स्वर्ग पावोगे ॥ ३ ॥ हे पुरुषव्याघ्र ! जबतक संसारमें मनुष्यकी पवित्र कीर्त्ति गान कीजाती है तबतक वह स्वर्गलोकमें विराजमान रहताहै ॥ ४॥ यहां पूर्वाचार्य एक पुराना इतिहास कहते हैं जिसमें केशिनीके अर्थ सुधन्वाके साथ विरोचनका संवाद है ॥ ५ ॥ हे राजन् ! श्रेष्ठपतिके पानेकी इच्छासे एक केशिनी नाम कन्या स्वयंवरमें स्थित थी । कैसी वह कन्या थी कि जिसके समान रूप करके कोई भी न थी ॥ ६ ॥ उस समय उस स्वयंवरके विषे केशिनीके प्राप्त करनेकी इच्छावाला विरोचन दैत्य आवताहुआ, तदनन्तर उस स्वयंवरमें केशिनी विरोचन नाम दैत्यराजसे कहनेलगी ॥ ७ ॥

केशिन्युवाच ।

किं ब्राह्मणाःस्विच्छ्रेयांसो दितिजाः स्विद्विरोचन।
अथ केन स्म पर्यंकं सुधन्वा नाधिरोहति ॥ ८ ॥

विरोचन उवाच ।

प्राजापत्यास्तु वै श्रेष्ठा वयं केशिनि सत्तमाः ।
अस्माकं खल्विमे लोकाः के देवाः के द्विजातयः९

केशिन्युवाच ।

इहैवावां प्रतीक्षाव उपस्थाने विरोचन ।
सुधन्वा प्रातरागंता पश्येयं वां समागतौ ॥ १० ॥

हे विरोचन ! मै तुमसे पूछतीहूं कि क्या ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं कि दैत्य क्या सुधन्वा ब्राह्मण हमारे पर्यंकपर नहीं चढसक्ता है किन्तु चढसक्ता है कारण कि यह श्रेष्ठ है और तुम श्रेष्ठ नहीं ॥ ८ ॥ तब विरोचन उस कन्यासे कहनेलगा हे केशिनी ! हम प्रजापतिके सन्तान अतीव श्रेष्ठ हैं और हमारे ही यह सर्वलोक हैं देवता कौन होतेहैं और ब्राह्मण कौन होतेहैं ॥ ९ ॥ तब केशिनी कहनेलगी । हे विरोचन ! यहाँ मेरे समीप सुधन्वाके आगमनमें हम तुम दोनों प्रतीक्षा करतेहैं सुधन्वा प्रातःकाल आवैंगे तब मैं तुम आयेहुए दोनोंको देखूंगी ॥ १० ॥

विरोचन उवाच।

तथा भद्रे करिष्यामि यथा त्वं भीरु भाषसे।
सुधन्वानं च मां चैव प्रातर्द्रष्टासि संगतौ ११॥

विदुर उवाच।

अतीतायां च शर्वर्यामुदिते सूर्यमंडले।
अथाजगाम तं देशं सुधन्वा राजसत्तम।
विरोचनो यत्र विभो केशिन्या सहितः स्थितः १२
सुधन्वा च समागच्छत्प्राह्लादिं केशिनीं तथा।
समागतं द्विजं दृष्ट्वा केशिनी भरतर्षभ।
प्रत्युत्थायासनं तस्मै पाद्यमर्घ्यं ददौ पुनः॥१३॥

तब विरोचन कहताहुआ हे भद्रे! मैं तिसप्रकार करूंगा जिसप्रकार कि हे भीरु! मुझसे कहतीहै। सुधन्वाको और मुझे दोनोंको इकट्ठा हुआ तू प्रातःकाल देखेगी॥ ११॥ विदुरजी राजा धृतराष्ट्रसे कहते हुए कि हे राजसत्तम! रात्रिके व्यतीत हो जानेपर सूर्यमंडल उदयको प्राप्तहुए सन्ते सुधन्वा उसी देशको आकर प्राप्तहुए जहां कि हे विभो! केशिनीसहित विरोचन स्थित था॥ १२॥ वह सुधन्वा ब्राह्मण प्रह्लादके पुत्र विरोचन और केशिनीके प्रति आवते हुए,

सुधन्वोवाच ।

अन्वालभे हिरण्मयं प्राह्लादे ते वरासनम् ।
एकत्वमुपसंपन्नो न त्वासेऽहं त्वया सह ॥ १४॥

विरोचन उवाच ।

तवार्हते तु फलकं कूर्चं वाप्यथवा बृसी ।
सुधन्वन्न त्वमर्होऽसि मया सह समासनम् ॥ १५॥

सुधन्वोवाच ।

पितापुत्रौ सहासीतां द्वौ विप्रौ क्षत्रियावपि ।
वृद्धौ वैश्यौ च शूद्रौ च न त्वन्यावितरेतरम् १६

हे भरतर्षभ ! तब उस आयेहुए ब्राह्मणको देखकर केशिनी खडी हो उस ब्राह्मणके लिये आसन फिर पाद्य और अर्घ्य देती हुई॥ १३॥ उससमय सुधन्वा समीपमें बैठेहुए विरोचनसे कहनेलगे हे प्रह्लादके पुत्र ! तुम्हारे सुवर्णमय श्रेष्ठ आसनको हम केवल चरणोंसे स्पर्श ही करसक्ते हैं पर एकताको प्राप्तहुए तुम्हारे साथ बैठ नहीं सक्तेहैं॥ १४॥ तब इतना वाक्य सुनकर विरोचन सुधन्वासे कहने लगे हे सुधन्वन् ! फलक नाम काष्ठका पीढा वा कूर्च वा बृसी नाम कुशाका आसन तुम्हारे योग्य होसक्ताहै तुम हमारे साथ बराबर बैठनेको नहीं योग्य हो ॥ १५॥ तब सुधन्वा

पिता हि ते समासीनमुपासीतैव मामधः ।
बालः सुखैधितो गेहेन त्वं किंचन बुध्यसे॥१७॥

विरोचन उवाच ।

हिरण्यं च गवाश्वं च यद्वित्तमसुरेषु नः ।
सुधन्वन्विपणे तेन प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः॥१८॥

सुधन्वोवाच ।

हिरण्यं च गवाश्वं च तवैवास्तु विरोचन ।
प्राणयोस्तु पणं कृत्वा प्रश्नं पृच्छाव ये विदुः॥१९॥

बोले हे विरोचन! पितापुत्र मिलकर एक जगह बैठसक्ते हैं और दो ब्राह्मण और दो क्षत्रिय और दो वृद्धवैश्य और दो शूद्र भी मिलकर एक जगह बैठ सकेहैं परन्तु अन्यजातीय दो परस्पर नहीं बैठ सक्तेहैं॥ ॥ १६ ॥ आसनपर बैठेहुए मुझको तुम्हारे पिता प्रह्लादजी नीचे बैठकर सेवा किया करतेहैं तुम बालक हो घरमे सुखपूर्वक बढे हो अभी सत् असत् कुछ भी नहीं जानते हो ॥ १७ ॥ तब सुधन्वासे विरोचन कहतेहुए। हे सुधन्वन्! सुवर्ण और गौ घोडा और जो धन हम दैत्योंपर है उसके हारनेका पण किये जानेपर हम तुम उनसे प्रश्न पूंछें जो कि हमारे तुम्हारे विवादको जानतेहैं ॥ १८ ॥ तब सुधन्वा बोले, हे विरोचन! सुवर्ण और गौ घोडा सब तुम्हारा

विरोचन उवाच ।

आवां कुत्र गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
न तु देवेष्वहं स्थाता न मनुष्येषु कर्हिचित् ॥ २० ॥

सुधन्वोवाच ।

पितरं ते गमिष्यावः प्राणयोर्विपणे कृते ।
पुत्रस्यापि स हेतोर्हि प्रह्लादो नानृतं वदेत् ॥ २१ ॥

विदुर उवाच ।

एवं कृतपणौ क्रुद्धौ तत्राभिजग्मतुस्तदा ।
विरोचनसुधन्वानौ प्रह्लादो यत्र तिष्ठति ॥ २२ ॥

ही रहो हम तुम दोनों प्राणोंके हारनेका पण करके उनसे प्रश्न पूछेंगे जो कि हमारे तुम्हारे विवादको जानतेहैं ॥ १९ ॥ तब विरोचन कहतेहुए । प्राणोंके हारनेका पण कियेजानेपर हम तुम दोनों प्रश्न पूंछनेको कहां चलेंगे मैं देवता और मनुष्योंके विषे तो कदाचित् भी नहीं स्थित होऊंगा ॥ २० ॥ तब सुधन्वा कहतेहुए हे विरोचन प्राणोंके हारनेका पण कियेजानेपर हम तुम दोनों तुम्हारे पिताके प्रति चलेंगे क्योंकि वह तुम्हारे पिता प्रह्लादजी पुत्रके भी कारण झूंठ नहीं कहसक्ते हैं ॥ २१ ॥ विदुरजी कहतेहैं कि इसप्रकार परस्पर किया

प्रह्लाद उवाच।

इमौ तौ संप्रदृश्येते याभ्यां न चरितं सह।
आशीविषाविव क्रुद्धावेकमार्गाविहागतौ ॥२३॥
किं वै सहैवं चरथो न पुरा चरथः सह।
विरोचनैतत् पृच्छामि किं ते सख्यं सुधन्वना २४

विरोचन उवाच।

न मे सुधन्वना सख्यं प्राणयोर्विपणावहे।
प्रह्लाद तत्त्वं पृच्छामि मा प्रश्नमनृतं वदेः ॥२५॥

हे पण जिन्होंने ऐसे क्रोधितहुए विरोचन और सुधन्वा उसीसमय तहां जातेहुए जहां कि प्रह्लादजी स्थित थे ॥ २२ ॥ उनको देखि प्रह्लादजी कहतेहुए दो सर्पोंके समान क्रोधितहुए एकमार्गवाले यह यह दोनों यहां आयेहुए दीखते हैं जिन्होंने कदापि एकजगह गमन नहीं किया ॥ २३ ॥ तुम दोनों इस प्रकार कैसे विचरते हो तुम दोनों तो एकसाथ मिलकर पहिले कभी नहीं विचरेथे हे विरोचन! तुमसे मैं यह पूछता हौं कि क्या तुम्हारी सुधन्वाके साथ मित्रता है ? ॥ २४ ॥ तब विरोचन कहनेलगा मेरी सुधन्वाके साथ कुछ भी मित्रता नहीं है हम दोनों प्राणोंके हारनेका पण कर रहेहैं

प्रह्लाद उवाच ।

उदकं मधुपर्कं वाप्यानयंतु सुधन्वने ।
ब्रह्मन्नभ्यर्चनीयोऽसि श्वेता गौः पीवरी कृता २६

सुधन्वोवाच ।

उदकं मधुपर्कं च पथिष्वेवार्पितं मम ।
प्रह्लाद त्वं तु मे तथ्यं प्रश्नं प्रब्रूहि पृच्छतः ।
किं ब्राह्मणाःस्विच्छ्रेयांस उताहो स्विद्विरोचनः२७

प्रह्लाद उवाच ।

पुत्र एको मम ब्रह्मंस्त्वं च साक्षादिहास्थितः ।
तयोर्विवदतोः प्रश्नं कथमस्मद्विधो वदेत् २८ ॥

हे प्रह्लाद ! मैं तुमसे तत्त्व पूछता हूँ मुझसे आप झूंठ प्रश्न न कहिये॥ ॥ २९ ॥ तब प्रह्लादजी बोले तुम सब सेवकगण सुधन्वा के लिये जल और मधुपर्क ल्याइये,हे ब्रह्मन् ! तुम हमारे पूजनीयहो मैंने तुम्हारे हीं अर्थ श्वेत गौ पुष्टकी है॥ २६ ॥ तब सुधन्वा कहतेहुए जल और मधुपर्क तो मेरा मार्गमेंही अर्पण होगया है अर्थात् छूटगया है हे प्रह्लाद ! अब मुझ पूछनेवालेसे सत्य प्रश्न कहिये मैं पूछता हों। क्या ब्राह्मण श्रेष्ठहैं, अथवा विरोचन श्रेष्ठहै ? ॥ २७ ॥ तब प्रह्लादजी बोले

सुधन्वोवाच ।

गां प्रदद्यास्त्वौरसाय यद्वान्यत्स्यात्प्रियं धनम् ।
द्वयोर्विवदतोस्तथ्यं वाच्यं च मतिमंस्त्वया २९ ॥

प्रह्लाद उवाच ।

अथ यो नैव प्रब्रूयात्सत्यं वा यदि वानृतम् ।
एतत्सुधन्वन्पृच्छामि दुर्विवक्ता स्म किं वसेत् ३०

सुधन्वोवाच ।

यां रात्रिमधिविन्ना स्त्री यां चैवाक्षपराजितः ।
यां च भाराभितप्तांगो दुर्विवक्ता स्म तां वसेत् ३१ ॥

हे ब्राह्मण ! मेरा एक ही पुत्र है और तुम साक्षात् यहां आकर स्थित हुए हौ फिर कहिये निन झगडनेवाले तुम दोनोंका प्रश्न मेरे सदृश जन कैसे कहसक्ताहै ॥ २८ ॥ तब सुधन्वा प्रह्लादजीसे कहतेहुए हे श्रेष्ठबुद्धिवाले ! गौ और जो अन्य प्रियधन हो वह अपने पुत्रको दीजिये इस समय तो झगडनेवाले हम दोनोंका प्रश्न तुमको सत्य कहना चाहिये ॥ २९ ॥ तब प्रह्लादजी कहतेहुए हे सुधन्वन् ! मै तुमसे यह पूछताहौं कि जो पूंछनेवालेमें सत्य अथवा झूठ कुछ भी न कहै वह अन्यायवक्ता किस दुःखको प्राप्त होताहै ॥ ३० ॥ तब सुधन्वा कहने

नगरे प्रतिरुद्धः सन् बहिर्द्वारे बुभुक्षितः ।
अमित्रान्भूयसः पश्येद्यः साक्ष्यमनृतं वदेत् ॥३२॥
पंच पश्वनृते हंति दश हंति गवानृते ।
शतमश्वानृते हंति सहस्रं पुरुषानृते ॥ ३३ ॥

हुए अधिविन्ना अर्थात् सपत्नीके साथ पतिके गृहमें रहनेवाली स्त्री जिस रात्रिको बसती है और द्यूतकर्ममें पराजितहुआ जिस रात्रिको बसताहै और बोझसे सपायमानहुए अंगोवाला जिस रात्रिको बसता है उसी रात्रिको अन्यायवक्ता बसताहै । भाव यह है कि जिस दुःखको यह प्राप्त होतेहैं उसीके समान दुःखको अन्यायवक्ता प्राप्त होताहै ॥ ॥३१॥ वह नगरमें क्षुधार्त होकर रुकाहुआ दरवाजेके बाहिर बहुतसे शत्रुओंको देखताहै जो कि साक्षी होकर झूंठ बोलताहै भाव यह है झूंठ बोलनेवाला साक्षी उस दुःखको पाताहै जिस दुखको कि क्षुधार्त होकर शत्रुओंके साथ घिराहुआ प्राप्त होताहै ॥ ३२ ॥ पशुमात्रके अर्थ झूंठ कहेजानेपर नर पंचपुरुषोंको नाश करताहै और गौके अर्थ झूंठ कहेजानेपर नर दश पुरुषोंको नाश करताहै और घोडाओंके अर्थ झूंठ कहेजाते पर नर सौ पुरुषोंको नाश करताहै । और पुरुषके अर्थ झूंठ कहेजानेपर नर हजार पुरुषोंको नाश करताहै ॥ ३३ ॥

हंति जातानजातांश्च हिरण्यार्थेऽनृतं वदन्।
सर्वं भूम्यनृते हंति मा स्म भूम्यनृतं वदेः ॥ ३४॥

प्रह्लाद उवाच।

मत्तः श्रेयानंगिरा वै सुधन्वा त्वद्विरोचन।
मातास्य श्रेयसी मातुस्तस्मात्त्वं तेन वै जितः ३५
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव।
सुधन्वन्पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ३६॥

सुधन्वोवाच।

यद्धर्ममवृणीथास्त्वं न कामादनृतं वदीः।

सुवर्णके अर्थ झूँठ कहनाहुआ नर उत्पन्न हुए तथा आगारी होनेवालों-को नाश करताहै और पृथिवीके अर्थ झूंठ कहेजानेपर सबको नाश करताहै। इसकारण आप पृथिवी तुल्य स्त्रीके अर्थ झूंठ मत कहियो॥ ॥ ३४ ॥ तब प्रह्लादजी बोले। हे विरोचन! मुझसे तो श्रेष्ठ सुधन्वा के पिता अंगिरा हैं और तुमसे श्रेष्ठ सुधन्वा है और इनकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है तिससे तुम इन सुधन्वाने जीतलिये ॥ ३५ ॥ हे विरोचन! अब यह सुधन्वा तुम्हारे प्राणोंके स्वामी हैं चाहें छोंड चाहें न छोंडें तब इतना विरोचनसे कह सुधन्वासे प्रह्लादजी प्रार्थना करने लगे। हे सुधन्वन्! तुम कर अर्पण कियेहुए विरोचनको फिरसे लेना चाहता हों ॥ ३६ ॥ उस समय सुधन्वा प्रह्लादजीसे कहनेलगे

पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्मात्प्रह्लाद दुर्लभम् ॥ ३७॥
एष प्रह्लाद पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्कुमार्याः सन्निधौ मम ॥३८॥

विदुर उवाच ।

तस्माद्राजेंद्र भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मा गमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमब्रुवन् ३९॥
न देवा दंडमादाय रक्षंति पशुपालवत् ।
यं तु रक्षितुमिच्छंति बुद्ध्या संविभजंति तम् ४०

हे प्रह्लाद जो कि तुम धर्मको ही वरतेहुए और कामसे झूंठ नहीं कहतेहुए तिसकारणसे मैं तुम्हारे लिये फिर दुर्लभ पुत्र दिये देताहूं ॥ ॥ ३७ ॥ हे प्रह्लाद ! मुझकर दियाहुआ यह तुम्हारा ही पुत्र विरोचन मेरे समीपसे कुमारी केशिनीको वरनेके लिये पादप्रक्षालन करो हम नहीं वरना चाहतेहैं ॥ ३८ ॥ विदुरजी राजा धृतराष्ट्रसे कहतेहैं कि तिससे हे राजेन्द्र ! पृथिवीके अर्थ झूठ कहनेको तुम योग्य नहीं हो पुत्रोंके अर्थ सत्य न कहतेहुए तुम पुत्रमन्त्रियों सहित नाशको मत प्राप्त होवो ॥ ३९ ॥ जिसप्रकार कि दण्ड लेकर पशुपाल पशुओंकी रक्षा करतेहैं तिस प्रकार देवता दंड लेकर मनुष्योंकी नहीं रक्षा करतेहैं

यथा यथा हि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिध्यंते नात्र संशयः ४१ ॥
नैनं छंदांसि वृजिनात्तारयंति,
मायाविनं मायया वर्तमानम् ।
नीडं शकुंता इव जातपक्षा-
श्छंदांस्येनं प्रजहत्यंतकाले ॥ ४२ ॥
मद्यपानं कलहं पूगवैरं,
भार्यापत्योरंतरं ज्ञातिभेदम् ।

किन्तु जिसकी रक्षा करना चाहतेहैं उसको बुद्धिकर विभक्त करदेतेहैं ॥ ॥ ४० ॥ इसकारण जिस २ प्रकार पुरुष कल्याणमें मन करताहै तिसी२ प्रकार उसके समस्त अर्थ सिद्ध होतेहैं इसमें संशय नहीं है ॥ ॥ ४१ ॥ मायाकरके वर्तमान हुए मायावीजनको वेद कष्टसे नहीं तारसक्ते हैं किन्तु उसको अन्तकालके विषे त्यागदेतेहैं जिसप्रकार जमेहुए परवाले पक्षी नीड नाम पक्षिगृहको त्यागदेतेहैं ॥ ४२ ॥ मदिराका पान और कलह (लडाई और बहुतोंसे वैरभाव और पतिस्त्रीका परस्पर वियोग और जातिमें पृथक् होना और राजामें वैर और स्त्रीपुरुषका विवाद और जो कि अनिदुष्ट मार्ग है यह सब

राजद्विष्टं स्त्रीपुंसयोर्विवादं,
वर्ज्यान्याहुर्यश्च पंथाः प्रदुष्टः ॥ ४३ ॥
सामुद्रिकं वणिजं चोरपूर्वं,
शलाकधूर्तं च चिकित्सकं च ।
अरिं च मित्रं च कुशीलवं च,
नैतान्साक्ष्ये त्वधिकुर्वीत सप्त ॥ ४४ ॥
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं,
मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ।
एतानि चत्वार्यभयंकराणि,
भयं प्रयच्छंत्ययथाकृतानि ॥ ४५ ॥

त्यागने योग्य है ऐसा पूर्वाचार्य कहतेहैं ॥ ४३ ॥ सामुद्रिक नाम हस्तरेखादिकी परीक्षा करनेवाला और वणिक और जो कि पहिले चौर हो और शलाकधूर्त अर्थात् दूसरोंका ठगनेवाला और चिकित्सा करनेवाला और शत्रु और मित्र और कुशीलव अर्थात् निन्दितशील रखनेवाला इन सातोंको कदाचित् भी साक्ष्य नाम गवाहीमें नहीं नियुक्त करै ॥ ४४ ॥ मानपूर्वक अग्निहोत्र और मानपूर्वक मौन और मानपूर्वक अध्ययन और मानपूर्वक यज्ञ यह चारों अभय करनेवाले हैं परन्तु

अगारदाही गरदः कुण्डाशी सोमविक्रयी।
पर्वकारश्च सूची च मित्रध्रुक्पारदारिकः॥४६॥
भ्रूणहा गुरुतल्पी च यश्च स्यात्पानपो द्विजः।
अतितीक्ष्णश्च काकश्च नास्तिको वेदनिंदकः ४७
स्रुवप्रग्रहणो व्रात्यः कीनाशश्चात्मवानपि।
रक्षेत्युक्तश्च यो हिंस्यात्सर्वे ब्रह्महभिः समाः॥४८॥

यथावन् नहीं कियेहुए भय देतेहैं॥ ४५॥ स्थानको जलानेवाला और विष देनेवाला और कुंडाशी अर्थात् भगसे जीविका करनेवाला और सोम बेचनेवाला और अस्त्र बनानेवाला और चुगल और मित्रसे वैर करनेवाला और परस्त्रियोंसे गमन करनेवाला॥ ४६॥ और गर्भ गिरानेवाला और गुरुकी शय्यापर स्थित होनेवाला और जो कि मदिरा पीनेवाला ब्राह्मण है और अतितीक्ष्ण और काक अर्थात् दुःखितको दुःख करनेवाला और नास्तिक तथा वेदनिन्दक॥ ४७॥ और स्रुवप्रग्रहण अर्थात् राजाके दियेहुए अधिकारबलसे प्रजासे अन्याय कर धान्यादिका ग्रहण करनेवाला और व्रात्य नाम पतित वा जिसका उपनयन नहीं हुआ हो और कीनाश नाम क्रूर और रक्षाकीजिये इस प्रकार प्राणियोंने कहाहुआ जो समर्थ होकर उन प्राणियोंकी हिंसा करै यह समस्त ब्रह्महत्या करनेवालोंके समान होतेहैं॥ ४८॥

तृणोल्कया ज्ञायते जातरूपं,
वृत्तेन भद्रो व्यवहारेण साधुः ।
शूरो भयेष्वर्थकृच्छ्रेषु धीरः,
कृच्छ्रेष्वापत्सु सुहृदश्चारयश्च ॥ ४९ ॥
जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा,
मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
क्रोधः श्रियं शीलमनार्यसेवा,
ह्रियं कामः सर्वमेवाभिमानः ॥ ५० ॥
श्रीर्मंगलात्प्रभवति प्रागल्भ्यात्संप्रवर्धते ।

तृणके अँगारसे सुवर्ण पहचाना जाताहै और आचारसे धर्म पहचाना जाताहै और व्यवहारकर साधु जन पहचाना जाताहै और भय होनेपर शूरवीर पहचाना जाताहै और अर्थकृच्छ्र अर्थात् धनके कष्टमें धीर पहचाना जाता है और कष्ट और आपदाओंमें मित्र तथा शत्रु पहचाने जातेहैं ॥ ॥ ४९ ॥ जरा नाम वृद्धावस्था रूपको हरलेतीहै और आशा धीरजको हरलेती है और मृत्यु प्राणोंको हरलेताहै और असूया (निन्दा) धर्म चर्य्याको हरलेती है और क्रोध लक्ष्मीको हरलेताहै और अनार्यसेवा अर्थात् असाधुओंकी सेवा शीलको हरलेती है और काम लज्जाको हरलेताहै और अभिमान सबको हरलेताहै ॥ ५० ॥ लक्ष्मी शुभकर्ममें

दाक्ष्यात्तु कुरुते मूलं संयमात्प्रतितिष्ठति ॥ ५१ ॥

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयंति,
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतं च ।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च,
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ५२ ॥
एतान्गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं,
सर्वान् गुणानेष गुणो विभाति ॥ ५३ ॥

उत्पन्न होवैहै और प्रगल्भतामे बढतीहै और चतुरतासे अपनी जडको स्थिर करतीहै और संयम अर्थात् इंद्रियोंके वशमें रखनेसे स्थित होजाती है॥५१॥आठ गुण पुरुषको प्रकाशमान करतेहैं एक तौ बुद्धि दूसरी कुलीनता तीसरा इन्द्रियोंका दमनकरना चौथा शास्त्राभ्यास पांचवां पराक्रम छठा बहुत बोलना मानवां यथाशक्ति दान आठवीं कृतज्ञता अर्थात् दूसरेके उपकारको जानना॥५२॥हे तात इन बडे प्रभाववाले आठोंको एक गुणही चमत्कार आश्रयकर लेता है जो कि प्रभु होकर मनुष्यका सत्काररूप गुण सब गुणोंके मध्यमें विशेष प्रकाशमान होताहै ॥५३॥

अष्टौ नृपेमानि मनुष्यलोके,
स्वर्गस्य लोकस्य निदर्शनानि ।
चत्वार्येषामन्ववेतानि सद्भि-
श्चत्वारि चैषामनुयांति संतः ॥ ५४ ॥
यज्ञो दानमध्ययनं तपश्च,
चत्वार्येतान्यन्ववेतानि सद्भिः
दमः सत्यमार्जवमानृशंस्यं,
चत्वार्येतान्यनुयांति संतः ॥ ५५ ॥
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा घृणा ।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः ५६॥

हे नृप ! यह अगारी कहेजानेवाले आठ गुण मनुष्यलोकमें स्वर्गलोकके दृष्टान्तहैं इनमें चार तो सज्जनोंकर सदैव सम्बद्ध रहतेहैं और इनमें चार ऐसेहैं कि जिनके पिछारी सज्जन चलतेहैं ॥ ५४ ॥ यज्ञ और दान और अध्ययन और तप यह चार ऐसेहैं कि जो सज्जनोंकर सदैव सम्बद्ध रहतेहैं । और दम अर्थात् इंद्रियोंका दमन करना और सत्य और आर्जव अर्थात् विषमभाव न होना और आनृशंस्य अर्थात् अक्रूरता यह चार ऐसेहैं कि जिनके पिछारी स्वयं सज्जन चलतेहैं ॥ ५५ ॥ इज्या नाम यज्ञ करना अध्ययन नाम शास्त्र पढना और दान

तत्र पूर्वचतुर्वर्गो दंभार्थमपि सेव्यते।
उत्तरश्च चतुर्वर्गो नामहात्मसु तिष्ठति॥ ५७॥
न सा सभा यत्र न संति वृद्धा,
न ते वृद्धा ये न वदंति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति,
न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्॥ ५८॥
सत्यं रूपं श्रुतं विद्या कौल्यं शीलं बलं धनम्।
शौर्यं च चित्रभाष्यं च दशेमे स्वर्गयोनयः ५९॥

देना और तप अर्थात् तपस्या करना और सत्य और सहनशील होना और दया और लोभका न होना यह धर्मका आठप्रकारका मार्ग पूर्वाचार्योंने कहाहै॥ ५६॥ तिस आठ प्रकारके धर्मके मार्गमें पूर्वके इज्या अध्ययन दान तप यह चार दम्भके अर्थ अर्थात् पाखण्डके लिये भी सेवन कियेजाते हैं परन्तु पिछारके सत्य क्षमा दया अलोभ यह चार दुरात्माओंके विषैं नहीं स्थित रहतेहैं किन्तु सज्जनोंके ही विषैं स्थित रहतेहैं॥ ५७॥ वह सभा नहीं है जिसमें कि वृद्धजन नहीं होवैं और वह वृद्ध नहीं हैं जो धर्मको न कहतेहों और यह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न होवै और वह सत्य भी नहींहै जो छलसे युक्त हो॥ ५८॥ सत्य और रूप और शास्त्राभ्यास और विद्या और

पापं कुर्वन्पापकीर्तिः पापमेवाश्नुते फलम् ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यमत्यंतमश्नुते ॥६०॥
तस्मात्पापं न कुर्वीत पुरुषः शंसितव्रतः ।
पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥६१॥
नष्टप्रज्ञः पापमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं प्रज्ञां वर्धयति क्रियमाणं पुनः पुनः॥६२॥
वृद्धप्रज्ञः पुण्यमेव नित्यमारभते नरः ।
पुण्यं कुर्वन्पुण्यकीर्तिः पुण्यं स्थानं स्म गच्छति।
तस्मात्पुण्यं निषेवेत पुरुषः सुसमाहितः ॥६३॥

कुलीनता और शील और बल और धन और शूरता और विचित्र भाषण यह दश स्वर्गकी योनी है ॥ ५९ ॥ पाप करताहुआ पुरुष पापकीर्ति होकर पापफलको ही भोगताहै और पुण्य करताहुआ पुरुष पुण्यकीर्ति होकर अत्यन्त पुण्यफलको भोगताहै ॥ ६० ॥ तिससे प्रशंसा कियेहुए व्रतवाला होकर पुरुष पापको कदाचित भी न करै क्योंकि वारंवार कियाहुआ पाप बुद्धिको नाश करदेताहै॥६१॥जिसकी कि बुद्धि नष्ट होजावैहै वह नर सदा ही पापका आरम्भ करता रहताहै और वारंवार कियाहुआ पुण्य बुद्धिको बढाताहै ॥ ६२ ॥ जिसकी बुद्धि बढजातीहै वह पुरुष सदा ही पुण्यका आरम्भ करताहै

असूयको दंदशूको निष्ठुरो वैरकृच्छठः।
स कृच्छ्रं महदाप्नोति न चिरात्पापमाचरन्॥६४॥
अनुसूयुः कृतप्रज्ञः शोभनान्याचरन्सदा।
न कृच्छ्रं महदाप्नोति सर्वत्र च विरोचते॥६५॥
प्रज्ञामेवागमयति यः प्राज्ञेभ्यः स पंडितः।
प्राज्ञो ह्यवाप्य धर्मार्थौ शक्नोति सुखमेधितुम्॥६६

पुण्य करताहुआ पुण्यकीर्ति होकर पुण्यस्थानको जाताहै तिससे पुरुष सावधान होकर पुण्यका ही सेवन करै॥६३॥ जो कि दूसरोंके गुणोंमें दोषारोपण करताहै और जो कि दंदशूक अर्थात् दूसरोंके मर्म स्थलोंका भेदन करताहै और जो कि अप्रिय बोलताहै और जो कि वैर करनेवाला है और जो कि शठ है वह पापका सेवन करनेवाला थोडे ही कालमें शीघ्र ही महत् कष्टको प्राप्त होताहै॥६४॥ और जो कि दूसरोंकी निन्दा नहीं करताहै और समस्तकार्योंमें जिसने यथोचित बुद्धि की है वह सदा ही शुभकर्म करताहुआ महत्कष्टको नहीं प्राप्त होताहै। और सब जगह प्रकाशित रहताहै॥६५॥ जो कि पंडितजनोंसे बुद्धिको प्राप्त करताहै वह पंडित है और जो कि पंडित है वह धर्म और अर्थको प्राप्त होकर सुख बढानेको समर्थ है॥६६॥

दिवसेनैव तत्कुर्याद्येन रात्रौ सुखं वसेत् ।
अष्टमासेन तत्कुर्याद्येन वर्षाः सुखं वसेत् ॥६७॥
पूर्वे वयसि तत्कुर्याद्येन वृद्धः सुखं वसेत ।
यावज्जीवेन तत्कुर्याद्येन प्रेत्य सुखं वसेत् ॥६८॥
जीर्णमन्नं प्रशंसंति भार्यां च गतयौवनाम् ।
शूरं विजितसंग्रामं गतपारं तपस्विनम् ॥ ६९ ॥
धनेनाधर्मलब्धेन यच्छिद्रमपिधीयते ।
असंवृतं तद्भवति ततोऽन्यदवदीयते ॥ ७० ॥

दिवसभरमें वह कार्य करै जिससे रात्रिमे सुखपूर्वक वसै और आठ महीने भरमें वह कार्य करै जिससे वर्षाके चारमहीना सुखपूर्वक बसै ॥ ६७ ॥ और पूर्व अवस्थामे वह कार्य करै जिससे वृद्ध होकर सुखपूर्वक वसै । और जीवनपर्यन्त वह कर्म करै जिससे मरकर परलोकमे सुखपूर्वक बसै ॥ ६८ ॥ संसारमें जो कि अन्न भोजन करनेपर पचजाताहै उसकी प्रशंसा करतेहैं । और जिसका यौवन व्यतीत होजाताहै उस स्त्रीकी बुढापेमे प्रशसा करतेहैं और जिसने संग्राम जीतलिया हो उस शूरकी प्रशसा करतेहैं । और गतपार अर्थात् जिसने ईश्वरतत्त्व प्राप्त करलिया है उस तपस्वीकी प्रशंसा करतेहैं ॥ ६९ ॥ अधर्मसे प्राप्तकिये धनसे जो छिद्र वन्द किया

गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम्।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः॥७१॥
ऋषीणां च नदीनां च कुलानां च महात्मनाम्।
प्रभावो नाधिगंतव्यः स्त्रीणां दुश्चरितस्य च७२॥
द्विजातिपूजाभिरतो दाता ज्ञातिषु चार्जवी।
क्षत्रियः शीलभाग्राजंश्चिरं पालयते महीम्॥७३॥
सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वंति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥७४॥

जाताहै यह विना ही मुँदाहुआ रहताहै किन्तु उससे और भी अधिक फटजाताहै ॥ ७० ॥ आत्मवान् नाम चित्तके जीतनेवालोंको शिक्षा करनेवाला गुरु है और दुरात्माओंको शिक्षा करनेवाला राजा है और गुप्त पापवालोंको दण्ड देनेवाले सूर्यके पुत्र यमराज हैं ॥७१॥ ऋषियोंका और नदियोंका और महात्माजनोंके कुलोंका और स्त्रियोंके दुश्चरितका सामर्थ्य अनन्त होनेसे जाननेको समर्थ नहीं होताहै॥७२॥ हे राजन्! द्विजातियोंकी पूजामे प्रीति रखनेवाला और दान करनेवाला और ज्ञातियोंमें विषमता न रखनेवाला ऐसा शीलवान् क्षत्रिय बहुत कालतक पृथिवीको पालताहै ॥ ७३ ॥ सुवर्ण ही हैं फूल जिसके ऐसी पृथिवीके सुवर्णरूप फूलोंको तीन पुरुष सचय करलेतेहै। एक तौ शूरवीर, दूसरा विद्यावान्, तीसरा वह जो कि सेवा करना

बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत ।
तानि जंघाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥७५॥
दुर्योधनेऽथ शकुनौ मूढे दुःशासने तथा ।
कर्णे चैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतिमिच्छसि॥७६॥
सर्वैर्गुणैरुपेतास्तु पांडवा भरतर्षभ ।
पितृवत्त्वयि वर्तंते तेषु वर्तस्व पुत्रवत् ॥ ७७ ॥
इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरहितवाक्ये पंचत्रिंशोऽध्यायः॥३५॥[३]

जानताहै ॥ ७४ ॥ संसारमें कर्म चारप्रकारके हैं तिनमें जो कि बुद्धिबलसे सिद्ध कियेजातेहैं वह श्रेष्ठ हैं और जो कि बाहुबलसे सिद्ध किये जाते हैं वह मध्यम हैं और जो कि कपटादिसे सिद्ध कियेजातेहैं वह अधम हैं और जो कि भार नाम बलात्कारसे सिद्ध कियेजातेहैं वह अति अधम हैं ॥७५॥ दुर्योधन और शकुनि और मूढ दुःशासन और कर्ण इनके विषें ऐश्वर्य रखकर अर्थात् इनके अधीन होकर तुम कैसे ऐश्वर्यको चाहते हो॥७६॥हे भरतर्षभ ! पांडव सर्वगुणोंसे युक्त हैं और तुम्हारेको पिताके समान मानतेहैं तुम भी उनको पुत्रकी समान मानिये ७७

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये श्रीपाटकवशावतंसपंडितमंगलसेनात्मजकालिरामविरचितभाषातिलके पंचत्रिंशोध्यायः ॥ ३५ ॥ [३]

विदुर उवाच ।

अत्रैवोदाहरंतीममितिहासं पुरातनम् ।
आत्रेयस्य च संवादं साध्यानां चेति नः श्रुतम् १
चरंतं हंसरूपेण महर्षिं शंसितव्रतम् ।
साध्या देवा महाप्राज्ञं पर्यपृच्छंत वै पुरा ॥ २ ॥

साध्या ऊचुः ।

साध्या देवा वयमेते महर्षे,
दृष्ट्वा भवंतं न शक्नुमोऽनुमातुम् ।
श्रुतेन धीरो बुद्धिमांस्त्वं मतो नः,
काव्यां वाचं वक्तुमर्हस्युदाराम् ॥ ३ ॥

इसके अनन्तर फिर विदुरजी महाराज धृतराष्ट्रसे कहतेहुए । हे राजन् ! यहाँ एक पुरातन इतिहासको कहतेहैं जिसमें आत्रेय और साध्योंका संवाद है यह हमने सुनाहै ॥ १ ॥ परमहंसरूपसे विचरने- वाले प्रशंसितव्रत बडे पंडित ऐसे महर्षिसे कभी पहिले साध्यदेवन पूछतेहुए ॥ २ ॥ साध्यदेव कहतेहैं कि हे महर्षे ! यह आपके प्रत्यक्ष खडेहुए हम साध्यदेवता हैं । आपको देखकर आपके जाननेको नहीं समर्थ हैं पर शास्त्रज्ञानमें तुम धीर और बुद्धिमान् विदित होतेहो इस

हंस उवाच ।

एतत्कार्यममराः संश्रुतं मे;
धृतिः शमः सत्यधर्मानुवृत्तिः ।
ग्रंथिं विनीय हृदयस्य सर्वं,
प्रियाप्रिये चात्मसमं नयीत ॥ ४ ॥
आक्रुश्यमानो नाक्रोशेन्मन्युरेव तितिक्षतः ।
आक्रोष्टारं निर्दहति सुकृतं चास्य विंदति ॥ ५॥

कारण विद्वानोंके योग्य उदारवाणी हमारे प्रति कहनेको आप योग्य हैं ॥ ३ ॥ तब इतना वचन सुन परमहंस कहनेलगे । हे देवताओ ! यह करना चाहिये जो हमने सुनरक्खा है धृति नाम धारणाशक्ति और शम नाम शान्ति और सत्यधर्मका सेवन और हृदयकी देहाभिमानरूप समस्त चिज्जडग्रंथिको दूरकर शरीरके सहित प्रिय अप्रिय इन दोनोंको भी दूर करदेवै । भाव यह है कि जिसप्रकार शरीर असत्य है तिसी प्रकार प्रिय और अप्रियको भी असत्य जानै ॥ ४ ॥ किसी कर आप गाळीदियाहुआ भी किसीको नहीं गाळी देवै । क्यों कि सहनेवालेका क्रोध ही गाली देनेवालोंको जलादेताहै और उसका

नाक्रोशी स्यान्नावमानी परस्य,
मित्रद्रोही नोत नीचोपसेवी।
न चाभिमानी न च हीनवृत्तो,
रूक्षां वाचं रुषतीं वर्जयीत ॥ ६ ॥
मर्माण्यस्थीनि हृदयं तथासून्,
रूक्षा वाचो निर्दहंतीह पुंसाम्।
तस्माद्वाचमुषतीं रूक्षरूपां,
धर्मारामो नित्यशो वर्जयीत ॥ ७ ॥
अरुंतुदं परुषं रूक्षवाचं,
वाक्कंटकैर्वितुदंतं मनुष्यान्।

पुण्य उस सहनेवालेको मिलजाता है ॥ ५ ॥ दूसरेको बुरा कहनेवाला न होवे और न दूसरेका अपमान करनेवाला होवे और न मित्रसे वैर करनेवाला होवे और न नीचकी सेवा करनेवाला होवे और न अभिमान करनेवाला होवे और न आचारसे भ्रष्ट होवे और रूखी कठोर वाणीको संभाषण करनेमें त्यागदेवे ॥ ६ ॥ रूखे कठोर वचन पुरुषोंके मर्मस्थल और हड्डी और हृदय तथा प्राणोंको भस्म करदेतेहैं। तिससे दूसरेके जलानेवाले घोररूप रूखे वचनोंको धर्मात्मा सदा ही त्यागदेवे ॥ ७ ॥ जो कि दूसरोंके मर्मस्थलोंको व्यथित करताहै और

अतिवादं न प्रवदेन्न वादये,-
द्योनाहतः प्रतिहन्यान्न घातयेत् ।
हंतुं च यो नेच्छति पापकं वै,
तस्मै देवाः स्पृहयंत्यागताय ॥ ११ ॥
अव्याहृतं व्याहृताच्छ्रेय आहुः,
सत्यं वदेद्व्याहृतं तद्द्वितीयम् ।
प्रियं वदेद्व्याहृतं तत्तृतीयं,
धर्म्यं वदेद्व्याहृतं तच्चतुर्थम् ॥ १२ ॥

सपस्वीकी सेवा करै या चोरकी सेवा करै वह उन्हीके वशको प्राप्त होजाताहै जिसप्रकार वस्त्र रंगके वशको प्राप्त होजाताहै । भाव यह है कि जिसप्रकार कि श्वेत वस्त्र जिस रंगमें रंगाजाय वह उसी रंगको धारण करलेताहै तिसी प्रकार विद्वान् भी जैसे की सेवा करताहै वैसा ही वह होजाता है ॥ १० ॥ दूसरोंकर कहाहुआ भी जो कि कठोर वचन स्वयं नहीं कहताहै न दूसरोंसे वाद करताहै और दूसरोंकर ताडा हुआ भी नहीं मारताहै और न दूसरोंसे मरवाता है । और जो पाप करनेवालेको भी नहीं मारना चाहताहै उस अपने स्थानमें आये हुएकी देवता स्वयं पूजा करतेहैं ॥ ११ ॥ मारग करनेसे मौन

याहशैः सन्निविशते याहशांश्चोपसेवते ।
याहगिच्छेच्च भवितुं ताहग्भवति पूरुषः ॥ १३ ॥
यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते ।
निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि ॥ १४ ॥

न जीयते नानुजिगीषतेन्यान्न,
वैरकृच्चाप्रतिघातकश्च ।
निंदाप्रशंसासु समस्वभावो,
न शोचते हृष्यति नैव चायम् ॥ १५ ॥

रहना श्रेष्ठ है ऐसा पूर्वाचार्य कहतेहैं और वचन कहे पर सत्य कहे यह द्वितीय है अर्थात् मौन रहनेसे सत्यबोलना श्रेष्ठ है और वचन कहे पर सत्य और प्रिय कहे यह तृतीय है अर्थात् केवल सत्यबोलनेसे सत्य और प्रिय बोलना श्रेष्ठ है। और वचन कहे पर सत्य और प्रिय तथा धर्मयुक्त कहे यह चतुर्थहै अर्थात् सत्य और प्रियबोलनेसे सत्य प्रिय धर्म युक्त बोलना श्रेष्ठ है ॥ १२ ॥ जैसे मनुष्योंके साथ बैठता उठता है और जैसोंकी सेवा करताहै और जैसा होना चाहताहै वह पुरुष वैसा ही होजाताहै ॥ १३ ॥ जहां २ से निवृत्त होताजाताहै तहां २ से ही छूटता चलाजाताहै। इसीप्रकार सब जगहसे निवृत्त होजानेसे पुरुष, थोडा भी दुःख नहीं जानताहै ॥ १४ ॥ न तो आप किसीसे जीताजाताहै न आप किसीके जीतनेकी इच्छा

भावमिच्छति सर्वस्य नाभावे कुरुते मनः।
सत्यवादी मृदुर्दांतो यः स उत्तमपूरुषः॥ १६॥
नानर्थकं सांत्वयति प्रतिज्ञाय ददाति च।
रंध्रं परस्य जानाति यः स मध्यमपूरुषः॥१७॥
दुःशासनस्तूपहतोऽभिशस्तो,
नावर्तते मन्युवशात्कृतघ्नः।
न कस्यचिन्मित्रमथो दुरात्मा,
कलाश्चैता अधमस्येह पुंसः ॥ १८॥

करताहै। और न वैर करनेवाला है न किसीको मारनेवाला है। और निन्दा तथा प्रशंसा दोनोंमें जिसका स्वभाव समान रहताहै और न दुःख होनेपर शोच करताहै और न सुख होनेपर प्रसन्न होताहै यह महात्माओंका स्वभाव है॥ १५॥ जो कि समस्तका कल्याण चाहताहै और किसीके अकल्याणमें मन नहीं करताहै और सत्य बोलता है और कोमलस्वभाव और इन्द्रियजित् है वह उत्तमपुरुष है॥१६॥ जो कि अनर्थक नाम मिथ्या शब्दोंसे ही नहीं समझताहै किन्तु कर्मसे भी समझाताहै और दूसरेकेलिये प्रतिज्ञा करके देताहै और दूसरेके छिद्रको जानताहै वह मध्यम पुरुष है॥ १७॥ घोषयात्रादिकोंमें दुःशासन मारा भी गयाथा और बांधा भी गया था परन्तु

न श्रद्दधाति कल्याणं परेभ्योऽप्यात्मशंकितः ।
निराकरोति मित्राणि यो वै सोऽधमपूरुषः १९॥
उत्तमानेव सेवेत प्राप्तकाले तु मध्यमान् ।
अधमांस्तु न सेवेत य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥२०॥

प्राप्नोति वै वित्तमसद्बलेन,
नित्योत्थानात्प्रज्ञया पौरुषेण ।
न त्वेव सम्यग्लभते प्रशंसां,
न वृत्तमाप्नोति महाकुलानाम् ॥ २१ ॥

तब भी दुष्कर्मसे नही निवृत्त होताहै । और क्रोधके वशसे पांडवोंके लिये उपकारको भी नाश करताहै । इससे दुरात्मा जन किसीका भी मित्र नही होताहै इस संसारमें अधमपुरुषकी यह ही फल होवैहै अर्थात् यह ही पहचाने होतीहै ॥ १८ ॥ आत्मशंकित नाम विश्वास-हीन हुआ जो दूसरोंके लिये कल्याणकी नही श्रद्धा करताहै और मित्रजनोंको दूर करताहै यह अधम पुरुष है ॥ १९ ॥ जो कि अपने कल्याणकी इच्छा करै वह उत्तमजनोंकी सेवा करै और प्राप्त-समयपर मध्यमजनोंकी भी सेवा करओै परन्तु नीचजनोंकी सेवा न करै ॥ २० ॥ असज्जन बलसे और नित्यके उद्यमसे और बुद्धिसे और पुरुषार्थसे धन तो पासकताहै परन्तु प्रशंसा सर्वप्रकार नही पासकताहै ।

धृतराष्ट्र उवाच।

महाकुलेभ्यः स्पृहयंति देवा,
धर्मार्थनित्याश्च बहुश्रुताश्च।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं,
भवंति वै कानि महाकुलानि ॥ २२

विदुर उवाच।

तपो दमो ब्रह्म वित्तं वितानाः,
पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्त गुणा वसंति,
सम्यग्वृत्तास्तानि महाकुलानि ॥ २३ ॥

और न महत्कुलमें उत्पन्नहुए सज्जनोंके आचारको पासक्ता है॥२१॥ धृतराष्ट्रजी महाराज फिर विदुरजीसे बोले हे विदुरजी! धर्म अर्थ रहतेहैं नित्य जिनकेविषे ऐसे बहुशास्त्रसम्पन्न हुए देवता भी जिन महाकुलोंकी पूजा करते हैं वह महाकुल कौन हैं तुमसे मैं यह प्रश्न पूंछता हों ॥ २२ ॥ तब विदुरजी बोले। तप नाम समाधिमें स्थित रहना और दम नाम इन्द्रियोंका वश करना और ब्रह्म वित्त नाम वेदाध्ययनाध्यापनादि और वितान नाम यज्ञकर्म और श्रेष्ठ विवाह और

येषां न वृत्तं व्यथते न योनि-
श्चित्तप्रसादेन चरंति धर्मम् ।
ये कीर्तिमिच्छंति कुले विशिष्टां,
त्यक्तानृतास्तानि महाकुलानि ॥ २४ ॥
अनिज्यया कुविवाहैर्वेदस्योत्सादनेन च ।
कुलान्यकुलतां यांति धर्मस्यातिक्रमेण च २५॥
देवद्रव्यविनाशेन ब्रह्मस्वहरणेन च ।
कुलान्यकुलतां यांति ब्राह्मणातिक्रमेण च २६ ॥

निरन्तर अन्नदान यह सात गुण जिनमें भलीप्रकार स्थितहुए रहतेहैं वह महाकुल हैं ॥ २३ ॥ जिन्होंका आचार व्यथाको नहीं प्राप्त होताहै । और न जिन्होंके उत्पन्न करनेवाले पित्रादिक जिनसे व्यथाको प्राप्त होतेहैं । और जो सदा ही चित्तकी प्रसन्नतासे धर्मआचरण करतेहैं और जो कुलमें विशेषकीर्तिकी इच्छा करतेहैं और जिन्होंने झूंठ त्यागदिया है वह महाकुल हैं ॥ २४ ॥ यज्ञके न करनेसे और निन्दित विवाहोंसे और वेदके तिरस्कार करनेसे और धर्मके उल्लंघनसे कुल अकुलताको प्राप्त होजातेहैं ॥ २५ ॥ देवताओंके धनके नाश करनेसे और ब्राह्मणोंके धन हरनेसे और ब्राह्मणोंके उल्लंघन करनेसे

ब्राह्मणानां परिभवात्परिवादाच्च भारत ।
कुलान्यकुलतां यांति न्यासापहरणेन च ॥२७॥
कुलानि समुपेतानि गोभिः पुरुषतोऽर्थतः ।
कुलसंख्यां न गच्छंति यानि हीनानि वृत्ततः२८
वृत्ततस्त्वविहीनानि कुलान्यल्पधनान्यपि ।
कुलसंख्यां च गच्छंति कर्षंति च महद्यशः॥२९॥
वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्वित्तमेति च याति च ।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ३०॥

कुल अकुलताको प्राप्त होजातेहैं ॥ २६ ॥ हे भारत ! ब्राह्मणोंके तिरस्कार और निन्दासे और न्यास नाम धरोहरके हरलेनेसे कुल अकुलताको प्राप्त होजातेहैं ॥ २७ ॥ जो कुल कि आचारसे भ्रष्ट हैं वह यदि गाय बैल आदिक पशुओंसे और बहुतसे पुरुषोंसे तथा धनोंसे भी सम्पन्न हों तब भी कुलसंख्याको नहीं प्राप्त होतेहैं अर्थात् उन कुलोंकी कुलोंमें गिनती नहीं होतीहै ॥ २८ ॥ और जो कि कुल आचारसे सम्पन्न हैं वह यदि थोडे भी धनसे युक्त हों तब भी कुलसंख्याको प्राप्त होतेहैं और महत् कीर्त्तिको प्राप्त होजातेहैं ॥२९॥ आचारकी यत्नसे रक्षा करै न कि आचारको त्यागिकर धनकी

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।
कुलानि न प्ररोहंति यानि हीनानि वृत्ततः॥३१॥
मा नः कुले वैरकृत्कश्चिदस्तु,
राजामात्यो मा परस्वापहारी।
मित्रद्रोही नैकृतिकोऽनृती वा,
पूर्वाशी वा पितृदेवातिथिभ्यः॥ ३२॥
यश्च नो ब्राह्मणान्हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान् द्विषेत्।
न नः स समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत्कृपिम्॥३३॥

क्योंकि कभी धन आजाताहै और कभी चलाजाताहै जो कि धनसे तो सम्पन्नहै और आचारसे भ्रष्ट है वह ही मरेसे भी मराहुआ है॥ ३० ॥ जो कि कुल आचारसे हीन हैं वह गाय बैल पशु घोडा और समृद्ध कृषिसे फिर नहीं प्रकट होतेहैं ॥ ३१ ॥ हमारे कुलमें कोई भी राजा और मन्त्री बैरका करनेवाला न होवै और हमारे कुलमें कोई भी दूसरोंके धनका हरनेवाला न होवै और हमारे कुलमें कोई भी मित्रका बैर करनेवाला न होवै और कपटी भी न होवै और झूंठ बोलनेवाला न होवै और पितृ देव और अतिथियोंसे पूर्व भोजन करनेवाला भी न होवै ॥ ३२ ॥ जो कि ब्राह्मणोंको मारे वह

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यंते कदाचन ॥ ३४ ॥
श्रद्धया परया राजन्नुपनीतानि सत्कृतिम् ॥
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ धर्मिणां पुण्यकर्मिणाम्॥३५॥
सूक्ष्मोऽपि भारं नृपते स्यंदनो वै,
शक्तो वोढुं न तथान्ये महीजाः ।
एवं युक्ता भारसहा भवंति,
महाकुलीना न तथान्ये मनुष्याः ॥३६॥

हमारे कुलमें न होवे और जो कि ब्राह्मणोंसे वैर करै वह हमारे कुलमें न होवे और जो कि युद्धको न जावे वह हमारे कुलमें न होवे और जो कि कृषिको त्यागदेवे वह हमारे कुलमें न होवे ॥ ३३ ॥ तृण चटाई आदिक और पृथिवी और जल और चौथी प्रिय और सत्य वाणी यह सज्जनोंके गृहोंमें कदाचित् भी नहीं पृथक् होते हैं ॥३४॥ हे राजन् ! हे महाप्राज्ञ ! पुण्यकर्मवाले धर्मात्माओंके यह चारों परम श्रद्धाकर सत्कारको प्राप्तहुए सदैव प्रवृत्त रहतेहैं ॥ ३५ ॥ हे नृपते ! जिसप्रकार कि छोटासा भी रथ बोझके वहनेको समर्थ होताहै तिस प्रकार अन्य पृथिवीसे उत्पन्न होनेवाले वृक्ष बोझके वहनेको नहीं

न तन्मित्रं यस्य कोपाद्बिभेति,
यद्वा मित्रं शंकितेनोपचर्यम् ।
यस्मिन्मित्रे पितरीवाश्वसीत,
तद्वै मित्रं संगतानीतराणि ॥ ३७ ॥
यः कश्चिदप्यसंबद्धो मित्रभावेन वर्तते ।
स एव बंधुस्तन्मित्रं सा गतिस्तत्परायणम् ॥३८॥
चलचित्तस्य वै पुंसो वृद्धाननुपसेवतः ।
पारिप्लवमतेर्नित्यमध्रुवो मित्रसंग्रहः ॥ ३९ ॥

समर्थ होते हैं इसीप्रकार योग्य महाकुलीन जन जिसप्रकार भारके सहनेवाले होतेहैं तिसप्रकार अन्य मनुष्य भारके सहनेवाले नहीं होतेहैं ॥ ३६ ॥ जिसके क्रोधसे डरतारहै वह मित्र नहीं है और जो कि शंकित चित्तसे सेवा कियाजाता हो वह भी मित्र नहीं है और जिस मित्रके विषैं पिताके समान विश्वास करै वह मित्र है और अन्य संगममात्रके ही मित्र होतेहैं ॥ ३७ ॥ जो कि अपने सम्बन्धसे भी वर्जित हो परमित्रभावकर वर्त्तै वह ही बन्धुहै और वह ही मित्र है और वह ही गति है और वह ही आश्रय है ॥ ३८ ॥ जिसका चित्त चंचल रहता है और जो कि मित्रोंकी सेवा करताहै और जिसकी

चलचित्तमनात्मानमिंद्रियाणां वशानुगम्।
अर्थाः समभिवर्तंते हंसाः शुष्कं सरो यथा॥४०॥
अकस्मादेव कुप्यंति प्रसीदंत्यनिमित्ततः।
शीलमेतदसाधूनामभ्रं पारिप्लवं यथा॥ ४१॥
सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवंति ये।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुंजते॥४२॥
अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसति वा धने।
नानर्थयन्प्रजा नाति मित्राणां सारफल्गुताम्४३

मंद बुद्धि भी चंचल रहती है उसका मित्रसंग्रह अध्रुव अर्थात् निरर्थक है॥ ३९॥ जिसका चित्त चलायमान रहताहै और जो दुरात्मा है और जो इन्द्रियोंके वश चलताहै उसके अर्थ चारोंतरफ रहतेहैं पर स्पर्श नहीं करतेहैं जिसप्रकार कि सूखे सरोवरके समीप हंस नहीं आकर प्राप्त होते हैं॥ ४०॥ जो कि अकस्मात् ही क्रोध करतेहैं और विना ही निमित्त प्रसन्न होजातेहैं यह असज्जनोंका स्वभावहै यह सदैव चंचल रहताहै जिसप्रकार कि बादल चलायमान रहताहै॥ ॥ ४१॥ जो कि सत्कार किये हुए तथा कृतार्थ हुए जन मित्रोंके हितके लिये नहीं होतेहैं उन मरेहुए कृतघ्नोंको मांस खानेवाले गृध्रादिक भी नहीं खातेहैं॥ ४२॥ धन होनेपर अथवा न होनेपर सब

संतापाद्भ्रश्यते रूपं संतापाद्भ्रश्यते बलम् ।
संतापाद्भ्रश्यते ज्ञानं संतापाद्व्याधिमृच्छति ४४
अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यंति मा स्मशोके मनः कृथाः४५

पुनर्नरो म्रियते जायते च,
पुनर्नरो हीयते वर्धते च ।
पुनर्नरो याचति याच्यते च,
पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ॥ ४६ ॥

कालमें मित्रोंका सत्कार करे और लोभी न होकर मित्रोंके सार वा असारको न जाने भाव यह है कि लोभी होकर अपने कार्यके वास्ते ही मित्रता न करे॥४३॥सन्ताप करनेसे रूप भ्रष्ट होजाताहै और सन्ताप करनेसे बल भ्रष्ट होजाताहै और सन्ताप करनेसे ज्ञान भ्रष्ट होजाताहै और सन्ताप करनेसे व्याधिको प्राप्त होजाताहै॥४४॥शोक करके सुखादि नहीं पाकर केवल शरीरमें ही संतप्त होताहै और उस शोक करनेसे शत्रुगण हर्षित होतेहैं इसकारण आप शोकमें मन न कोजिये॥४५॥ संसारमें कभी नर मरजाताहै और कभी फिर उत्पन्न होजाताहै और कभी नर संपदाओंसे हीन होजाताहै और कभी फिर संपदाओंकर वृद्धिको प्राप्त होजाताहै और कभी नर आप दूसरोंसे मांगताहै और कभी फिर आप दूसरोंकर याचना

सुखं च दुःखं च भवाभवौ च,
लाभालाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशंति,
तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥४७॥
चलानि हीमानि षडिंद्रियाणि,
तेषां यद्यद्वर्धते यत्र यत्र ।
ततस्ततः स्रवते बुद्धिरस्य,
छिद्रोदकुम्भादिव नित्यमंभः ॥ ४८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

तनुरुद्धः शिखी राजा मिथ्योपचरितो मया ।

कियाजाताहै और कभी नर आप दूसरोंको शोचताहै और कभी वह दूसरों-कर शोचा जाताहै॥४६॥सुख और दुःख और लाभ और अलाभ और मरण और जीवन यह क्रमसे पुरुषमात्रको समय२पर स्पर्श करते रहतेहैं । तिससे धीरजन न तो प्रसन्न होवे और न शोक करै ॥४७॥ पांच ज्ञानेन्द्रिय और छठा मन यह छै इन्द्रिय पुरुषके अतिचंचल हैं उनमें जो २ इन्द्रिय जिस २ विषयमें वृद्धिको प्राप्त होजाताहै उसी२ विषयसे उसकी बुद्धि टपक जातीहै जिस प्रकार कि छिद्रवाले जलके कलशसे सदा ही जल टपकजाताहै ॥ ४८ ॥ तब धृतराष्ट्र कहतेहुए

मन्दानां मम पुत्राणां युद्धेनांतं करिष्यति॥४९॥
नित्योद्विग्नमिदं सर्वं नित्योद्विग्नमिदं मनः ।
यत्तत्पदमनुद्विग्नं तन्मे वद महामते ॥ ५० ॥

विदुर उवाच ।

नान्यत्र विद्यातपसोर्नान्यत्रेंद्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र लोभसंत्यागाच्छांतिं पश्यामितेऽनघ ५१
बुद्ध्या भयं प्रणुदति तपसा विंदते महत् ।
गुरुशुश्रूषया ज्ञानं शांतिं योगेन विंदति ॥ ५२ ॥

हे विदुरजी ! अग्निके समान शरीरमे गुप्तसामर्थ्यवाले राजा युधिष्ठिर मैंने कपटसे सेवन करे हैं इसकारण मेरे मन्दपुत्रोंका युद्धसे नाश करदेंगे ॥ ४९ ॥ हे महामते ! यह समस्त चर अचर विश्व नित्य उद्विग्न रहताहै और यह मन भी नित्य उद्वेगयुक्त रहताहै जो कि पद उद्वेगयुक्त न होवे वह मुझसे कहिये ॥ ५० ॥ तब विदुरजी बोले ! हे अनघ ! अर्थात् हे निष्पाप ! विद्या और तपस्याके विना और इन्द्रियोंके रोकनेके विना और लोभके त्यागनेके विना तुम्हारी शान्तिको नहीं देखताहूँ ॥ ५१ ॥ संसारमे जन विचारसे भयको दूर करदेताहै । और तपसे महत्त्वको प्राप्त होजाताहै । और गुरुज-

अनाश्रिता दानपुण्यं वेदपुण्यमनाश्रिताः ।
रागद्वेषविनिर्मुक्ता विचरंतीह मोक्षिणः ॥ ५३ ॥
स्वधीतस्य सुयुद्धस्य सुकृतस्य च कर्मणः ।
तपसश्च सुतप्तस्य तस्यांते सुखमेधते ॥ ५४ ॥
स्वास्तीर्णानि शयनानि प्रपन्ना,
न वै भिन्ना जातु निद्रां लभंते ।
न स्त्रीषु राजन् रतिमाप्नुवंति,
न मागधैः स्तूयमाना न सूतैः ॥ ५५ ॥

नोंकी सेवासे ज्ञानको प्राप्त होताहै । और योगसे शान्तिको प्राप्त होताहै ॥ ५२ ॥ मोक्षकी इच्छा करनेवाले जन दान तो करतेहैं पर उस दानके पुण्य स्वर्गादिकी नहीं कांक्षा करतेहैं । और वेदका अध्ययनाध्यापन तो करतेहैं पर उसके फलके आश्रय नहीं होतेहैं किन्तु राग और द्वेषसे हीनहुए मनुष्योंका कल्याण करतेहुए इस संसारमें विचरतेहैं ॥ ५३ ॥ जो कि भलीप्रकार अध्ययन कियाहै और जो कि भलीप्रकार युद्ध कियाहै और जो कि भली प्रकार पुण्य कियाहै और जो कि भलीप्रकार कर्म कियाहै और जो कि भलीप्रकार तपस्या तपी है इन सबके अन्तमें उस कर्ताको सुख बढताहै ॥ ५४ ॥ हे राजन् ! जातिसे भिन्नहुए जन सुन्दर बिछौनावाली शय्याओंपर

न वै भिन्ना जातु चरंति धर्मं,
न वै सुखं प्राप्नुवंतीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवंति,
न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयंति ॥ ५६ ॥
न वै तेषां स्वदते पथ्यमुक्तं,
योगक्षेमं कल्पते नैव तेषाम् ।
भिन्नानां वै मनुजेंद्र परायणं,
न विद्यते किंचिदन्यद्विनाशात् ॥ ५७ ॥

सोतेहुए भी निद्राको कदाचित् नहीं प्राप्त होतेहैं और न स्त्रियोंके विषैं रतिको प्राप्त होतेहैं । और न मागध और न सूतोंकर स्तुतिकियेहुए आनन्दको प्राप्त होतेहैं ॥ ५५ ॥ और जातिसे भिन्नहुए जन कदाचित् भी धर्म नहीं करसक्तेहैं और न जातिसे भिन्नहुए जन यहां सुख पासक्तेहैं । और नजातिसे भिन्नहुए जन गौरवको प्राप्त होतेहै । और न जातिसे भिन्नहुए जन शान्तिको रोचतेहैं ॥ ५६ ॥ और न उन जातिसे भिन्नहुए जनोंको हितवाक्य अच्छा लगताहै और न उन जातिसे भिन्नहुए जनोंके योग नाम नहीं प्राप्तहुएका लाभ और क्षेम नाम प्राप्तहुएकी रक्षाकरना यह दोनों कल्पित होतेहैं । हे

संपन्नं गोषु संभाव्यं संभाव्यं ब्राह्मणे तपः ।
संभाव्यं चापलं स्त्रीषु संभाव्यं ज्ञातितो भयम् ५८
तंतवोऽप्यायिता नित्यं तनवो बहुलाः समाः ।
बहून्बहुत्वादायासान्सहंतीत्युपमा सताम् ॥५९॥
धूमायंते व्यपेतानि ज्वलंति सहितानि च ।
धृतराष्ट्रोल्मुकानीव ज्ञातयो भरतर्षभ ॥ ६० ॥
ब्राह्मणेषु च ये शूराः स्त्रीषु ज्ञातिषु गोषु च ।

मनुजेन्द्र ! जातिसे भिन्नहुए जनोंका परिणाम विनाशसे पृथक् और कुछ भी नहीं विद्यमान है अर्थात् जातिसे भिन्नहुए जनोंका परिणाम विनाश ही है ॥ ५७ ॥ गौओंमें दुग्धादिसंपत्ति होनी चाहिये और ब्राह्मणमें तप होना चाहिये और स्त्रियोंमें चपलता होनी चाहिये और जातिसे भय होना चाहिये ॥ ५८ ॥ परस्पर एकसमान ऐसे सूक्ष्म तन्तु बहुतसे मिलकर दृढ रहते हैं और यह बहुत होनेसे बहुतसे कष्ट सहलेतेहैं यह उपमा सज्जनोंकी है जिसप्रकार कि अल्पबल भी होकर सज्जन बहुतोंके साथ अनेक कष्ट सहलेनेको समर्थ होतेहैं ॥ ५९ ॥ हे धृतराष्ट्र और हे भरतर्षभ जिसप्रकार कि आपसमें पृथक् हुए अंगार धुआं करतेहैं और मिलकर जलनेलगतेहैं तिसीप्रकार जातिवाले भी जानने चाहिये ॥ ६० ॥ हे धृतराष्ट्रजी ब्राह्मण और

वृंतादिव फलं पक्वं धृतराष्ट्र पतंति ते ॥ ६१ ॥
महानप्येकजो वृक्षो बलवान् सुप्रतिष्ठितः ।
प्रसह्य एव वातेन सस्कंधो मर्दितुं क्षणात् ॥६२॥
अथ ये सहिता वृक्षाः संघशः सुप्रतिष्ठिताः ।
ते हि शीघ्रतमान्वातान्सहंतेन्योन्यसंश्रयात् ६३॥
एवं मनुष्यमप्येकं गुणैरपि समन्वितम् ।
शक्यं द्विषंतो मन्यंते वायुर्द्रुममिवैकजम् ॥६४॥
अन्योन्यसमुपष्टंभादन्योन्यापाश्रयेण च ।

स्त्री और जाति और, गौओंके विषै पीडाकरनेमें जो शूर अर्थात समर्थ है यह पतित होजाते हैं जिसप्रकार कि डालीसे पकाहुआ फल गिरजाताहै ॥ ६१ ॥ भलीप्रकार पुष्टतापूर्वक स्थितहुआ अति बली बडाभारी अकेला वृक्ष शाखाओंसहित क्षणमात्रमें ही पवनसे मर्दित होनेको समर्थ होताहै ॥ ६२ ॥ और जो कि वृक्ष वनमें इकट्ठे मिलेहुए समूहके समूह भलीप्रकार पुष्टतापूर्वक खडे हुए हैं यह परस्पर आश्रयसे अतिशीघ्र चलनेवाले पवनोंको सहलेतेहैं ॥ ६३ ॥ इसीप्रकार गुणोंसे युक्तहुए अकेले मनुष्यके नाश करनेको शत्रुजन अपनेयोग्य मानतेहैं जिसप्रकार कि पवन अकेले जमेहुए वृक्षके उखा-डनेको समर्थ होता है ॥ ६४ ॥ परस्पर मेलमिलाप होनेसे और

ज्ञातयः संप्रवर्धंते सरसीवोत्पलान्युत ॥ ६५ ॥
अवध्या ब्राह्मणा गावो ज्ञातयः शिशवः स्त्रियः।
येषां चान्नानि भुंजीत ये च स्युः शरणागताः६६
न मनुष्ये गुणः कश्चिद्राजन्सधनतामृते ।
अनातुरत्वाद्भद्रं ते मृतकल्पा हि रोगिणः ॥६७॥
अव्याधिजं कटुकं शीर्षरोगि,
पापानुबंधं परुषं तीक्ष्णमुष्णम् ।
सतां पेयं यन्न पिबंत्यसंतो,
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ ६८ ॥

परस्पर एक दूसरेके आश्रयसे जातिवाले जन इस प्रकार वृद्धिको प्राप्त होतेहैं जिसप्रकार कि तालाबमें कमल मिलकर बढतेहैं ॥ ६५ ॥ हे राजन्! ब्राह्मण, गौ, जाति, बालक और स्त्री यह और जिनका अन्नजेवें और जो कि शरण प्राप्तहुए हों वह नहीं मारनेयोग्य हैं ॥ ६६ ॥ हे राजन्! सधनता और आरोग्यके विना मनुष्यमें और कोई गुण नहीहै किन्तु सधनता और आरोग्य ही गुण है क्यों कि निर्धन और रोगी जन जीवते ही मरेके समान होतेहैं पर तुम्हारे तौ धन और आरोग्य होनेसे सब प्रकार कल्याण है ॥ ६७ ॥ हे महा-

रोगार्दिता न फलान्याद्रियंते,
न वै लभंते विषयेषु तत्त्वम् ।
दुःखोपेता रोगिणो नित्यमेव,
न बुध्यंते धनभोगान्न सौख्यम् ॥ ६९ ॥
पुरा ह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मे,
द्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्य राजन् ।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां,
कितवत्वं पंडिता वर्जयंति ॥ ७० ॥

राज ! आप मन्यु नाम दीनताका पान कीजिये और शान्त हूजिये कैसी है दीनता कि विना ही व्याधिसे उत्पन्न होजावैहै । और स्वभावसे अतिकटुक और कठोर तथा तीक्ष्ण और गरम है और शिरके रोगकर्त्ता है और पापके संग्रह करनेवाली है । और सज्जनोंके पान करनेयोग्य है और जिसको असज्जन नहीं पीते हैं ॥ ६८ ॥ रोगसे पीडित हुए जन सत् असत् कार्यके फलोंको नहीं आदर करतेहैं । और विषयोंके विषैं तत्त्व नाम इष्टानिष्टज्ञानको प्राप्त होतेहैं । दुःखसे युक्तहुए तथा रोगीजन सदाही न धनभोगोंका और न सौख्यका अनुभव करतेहैं ॥ ६९ ॥ हे राजन् ! पहिले जुआमें

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य,
त्वयाधीनं कुरुकुलमाजमीढ ।
पार्थान्बालान्वनवासप्रतप्तान्,
गोपायस्व स्वं यशस्तात रक्षन् ॥ ७३ ॥
संधत्स्व त्वं कौरव पांडुपुत्रै-
र्मा तेंतरं रिपवः प्रार्थयंतु ।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव सर्वे,
दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेंद्र ॥ ७४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये षट्त्रिंशोऽध्यायः॥३६॥[४]

एक ही शत्रु मित्रवाले और एक ही कार्यवाले होकर कौरव सुखी और समृद्ध हुए जीवें ॥ ७२ ॥ हे आजमीढ ! तुम अब कौरवोंके मध्यमें मेढ होकर स्थित हूजिये । हे तात अपनी कीर्तिकी रक्षा करते हुए तुम वनवाससे दुःखित ऐसे बालक पाण्डवोंकी रक्षा करिये॥ ॥ ७३ ॥ हे कौरव ! पाण्डुपुत्रोंके साथ सलाह करलीजिये तुम्हारे अन्तर नाम परस्पर भेद होनेको तुम्हारे शत्रुजन कांक्षा न करें ।

विदुर उवाच।

सप्तदशेमान् राजेंद्र मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।
वैचित्रवीर्य पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्घ्नतः॥ १॥
दानवेंद्रस्य च धनुरनाम्यं नमतोऽब्रवीत्।
अथो मरीचिनः पादानग्राह्यान् गृह्णतस्तथा॥२॥

हे नरदेव! वह पाण्डव समस्त सत्यमें स्थित हैं हे नरेन्द्र! तुम दुर्योधनको सत्यमें स्थित कीजिये॥ ७४॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंस--पण्डितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचितभाषातिलके षट्त्रिंशोऽध्यायः॥ ३६॥ [४]

इसके अनन्तर फिर विदुरजी महाराज राजा धृतराष्ट्रसे कहनेलगे हे राजेन्द्र! हे वैचित्रवीर्य स्वायम्भुव मनु इन सत्तरह पुरुषोंको मूर्ख बतलातेहुए कैसे वह मूर्ख हैं कि मानों नहीं हननेयोग्य आकाशको मुष्टियोंसे हनतेहैं॥ १॥ और दानवेन्द्र नाम मेघसमूहोंके इन्द्रका जो कि वर्षाकालमें दीखनेवाला धनुष है वह नहीं भी नवानेयोग्य है पर उसको मानों नवाना चाहतेहैं। और मरीचि नाम सूर्य्यके नहीं ग्रहण

यश्चाशिष्यं शास्ति वै यश्च तुष्ये-
द्यश्चातिवेलं भजते द्विषंतम् ।
स्त्रियश्च यो रक्षति भद्रमश्नुते,
यथायाच्यं याचते कत्थते वा ॥ ३ ॥
यश्चाभिजातः प्रकरोत्यकार्यं,
यश्चाबलो बलिना नित्यवैरी ।
अश्रद्दधानाय च यो ब्रवीति,
यश्चाकाम्यं कामयते नरेंद्र ॥ ४ ॥

करनेयोग्य किरणोंको ग्रहण करना चाहतेहैं ॥ २ ॥ जो कि नहीं शिक्षा करनेयोग्यको शिक्षा करतेहैं और जो कि निन्दितवृत्तिसे प्रसन्न होतेहैं और जो कि असमयपर शत्रुकी सेवा करते हैं और जो कि स्त्रियोंकी रक्षा करतेहैं । और उन स्त्रियोंसे कल्याणको प्राप्त होतेहैं अर्थात् स्त्रियोंकी सेवासे कल्याण पातेहैं और जो कि नहीं मांगनेलायकसे मांगता है और जो कि वृथा ही बकवाद करता है ॥ ३ ॥ और जो कि कुलीन हो नहीं करनेलायक कर्म करता है ॥ और जो कि निर्बल होकर बलीके साथ सदैव वैर करताहै और जो कि नहीं श्रद्धा रखनेवालेके लिये हितवाक्य कहताहै और हे नरेन्द्र

वध्वाऽवहासं श्वशुरो मन्यते यो,
वध्वाऽवसन्नभयो मानकामः।
परक्षेत्रे निर्वपति यश्च बीजं,
स्त्रियं च यः परिवदतेऽतिवेलम् ॥ ५ ॥
यश्चापि लब्ध्वा न स्मरामीतिवादी,
दत्त्वा च यः कत्थति याच्यमानः।
यश्चासतः सत्त्वमुपानयीत,
एतान्नयंति निरयं पाशहस्ताः ॥ ६ ॥

जो कि नहीं चाहनेयोग्य पदार्थकी चाहना करता है ॥ ४ ॥ और जो कि श्वशुर होकर पुत्रवधूके साथ परिहास करता मानताहै और पुत्रवधूसे अपने पिता भ्राता आदिसे जिसको कि भय आपदामें दूर करादी है ऐसा जो कि फिर पुत्रवधूके पिता भ्रातादिकसे मान चाहताहै और जो कि दूसरेके क्षेत्रमें बीज बोता है अर्थात् परस्त्रीके साथ गमन करता है और जो कि स्त्रीसे असमयपर वार्त्तालाप करता है ॥ ५ ॥ और जो कि दूसरेसे लेकर यह कहताहै कि मैं नहीं जानता हूँ और जो कि किसीकर याचना कियाहुआ दान देकर अपनी बडाई करता है और जो कि अविद्यमानका विद्यमान होना समर्थन

यस्मिन् यथा वर्तते यो मनुष्य-
स्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः,
साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥ ७ ॥
जरा रूपं हरति हि धैर्यमाशा,
मृत्युः प्राणान्धर्मचर्यामसूया ।
कामो ह्रियं वृत्तमनार्यसेवा,
क्रोधः श्रियं सर्वमेवाभिमानः ॥ ८ ॥

करताहै इनसबको पाश है हाथमें जिनके ऐसे यमराजके दूत नरकको लेजाते हैं ॥ ६ ॥ जो मनुष्य जिसके विषैं जिसप्रकार वर्ते उसके विषै भी उसको उसीप्रकार वर्त्तना चाहिये यह धर्म है । जो कि मायाचार अर्थात् कपटी हैं वह कपटताकर ही वर्त्तना चाहिये और जो कि साधु है वह साधुताकर वर्त्तना चाहिये ॥ ७ ॥ जरा नाम वृद्धावस्था रूपको हरलेतीहै और धीरजको आशा हरलेतीहै और मृत्यु प्राणोंको हरलेताहै और निन्दा धर्मचर्याको हरलेतीहै । और काम लज्जाको हरलेताहै । और दुर्जनोंकी सेवा आचारको हरलेतीहै । क्रोध लक्ष्मीको हरलेताहै और अभिमान सबको हरलेताहै ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

शतायुरुक्तः पुरुषः सर्ववेदेषु वै यदा ।
नाप्नोत्यथ च तत्सर्वमायुः केनेह हेतुना ॥ ९ ॥

विदुर उवाच ।

अतिमानोऽतिवादश्च तथाऽत्यागो नराधिप ।
क्रोधश्चात्मविधित्सा च मित्रद्रोहश्च तानि षट् १०
एत एवासयस्तीक्ष्णाः कृंतंत्यायूंषि देहिनाम् ।
एतानि मानवान्घ्नन्ति न मृत्युर्भद्रमस्तु ते॥११॥

इतना सुन धृतराष्ट्र महाराज विदुरजीसे फिर बोले हे विदुरजी ! जब कि समस्त वेदोंमें सौ वर्षकी आयुवाला पुरुष कहाहै फिर वह समस्त आयुको किसकारण नहीं प्राप्त होताहै ॥ ९ ॥ तब विदुरजी महाराज कहनेलगे हे नराधिप ! एक तौ अतिमान, दूसरा निष्ठुर बोलना, तीसरा, अत्याग अर्थात् महापराध चौथा क्रोध, पांचवीं अपने उदरपोषण करनेकी इच्छा, छठा मित्रसे वैर करना, यह छै हैं ॥ १० ॥ यह ही बडी पैनी तल्वार हैं जो देहधारियोंकी आयुको काटदेती हैं और यह ही मनुष्योंको मारदेती हैं इससे हे राजन् ! इन तल्वारोंसे तुम्हारा मृत्यु न होवे ऐसा करिये जिससे तुम्हारा कल्याण हो ॥ ११ ॥

विश्वस्तस्यैति यो दारान् यश्चापि गुरुतल्पगः ।
वृषलीपतिर्द्विजो यश्च पानपश्चैव भारत ॥ १२॥
आदेशकृद्वृत्तिहंता द्विजानां प्रेषकश्च यः ।
शरणागतहा चैव सर्वे ब्रह्महणः समाः ।
एतैः समेत्य कर्तव्यं प्रायश्चित्तमिति श्रुतिः॥१३॥
गृहीतवाक्यो नयविद्वदान्यः,
शेषान्नभोक्ता ह्यविहिंसकश्च ।

हे भारत ! जो कि अपने पर विश्वास करनेवालेकी स्त्रियोंके प्रति गमन करताहै और जो कि गुरुकी शय्यापर गमन करताहै और जो कि द्विजाति होकर शूद्राका पति होजाता है और मदिरादिका पान करता-है ॥ १२ ॥ और जो कि ब्राह्मणोंको सबकालमें सर्वकार्यके करनेमें आज्ञा करता रहताहै और स्वयं कुछ भी नहीं करताहै और - जो कि ब्राह्मणोंकी वृत्ति हरलेता है और समस्तकार्यमें निमन्त्रणादि देनेदिला-नेके लिये ब्राह्मणोंको ही भेजताहै और जो कि शरण आयेहुएको मारनेवाला है यह सब ब्रह्महत्या करनेवालोंके समान हैं इनके साथ संसर्ग करके मनुष्यको अवश्य ही प्रायश्चित्त करना चाहिये ऐसा वेद कहताहै ॥ १३ ॥ जो कि गृहीतवाक्य अर्थात् विद्वान् और नीतिको जाननेवाला और दानी है और अतिथि आदिके भोजन करनेसे पीछे

नानर्थकृत्याकुलितः कृतज्ञः
सत्यो मृदुः स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ १४ ॥
सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः१५
यो हि धर्मं समाश्रित्य हित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् १६
त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्१७

बचेहुए अन्नका जेंवनेवाला और किसीकी भी नहीं हिंसा करनेवालाहै और अनर्थ कर्मसे नहीं आकुल रहताहै और किये उपकारका जानने वाला है और सत्यबोलनेवाला तथा कोमलस्वभाव है ऐसा विद्वान् स्वर्गको प्राप्त होताहै ॥ १४ ॥ हे राजन् ! संसारमें निरन्तर प्रिय वाक्य कहनेवाले तौ सुलभ हैं पर जो कि वास्तवमें तौ हितकारक है और बोलनेमें अप्रिय प्रतीत होताहै ऐसे वाक्यको कहनेवाला और सुननेवाला दुर्लभ है ॥ १५ ॥ जो कि धर्मको आश्रय कर स्वामीके प्रिय और अप्रिय दोनोंको त्यागि बोलनेमें तौ अप्रिय हों पर वास्तवमें हितकारक हों ऐसे वचन स्वामीसे कहताहै उसीकर राजा सहायवाला होताहै अर्थात् वह राजाका सचा सहायक है ॥१६॥ कुलके अर्थ एक

आपदर्थे धनं रक्षेद्दारान् रक्षेद्धनैरपि ।
आत्मानं सततं रक्षेद्दारैरपि धनैरपि ॥ १८ ॥
द्यूतमेतत्पुरा कल्पे दृष्टं वैरकरं नृणाम् ।
तस्माद् द्यूतं न सेवेत हास्यार्थमपि बुद्धिमान् १९
उक्तं मया द्यूतकालेऽपि राज-
न्नेदं युक्तं वचनं प्रातिपेय ।

पुरुषको त्यागदेवे और ग्रामके अर्थ कुलको त्यागदेवे और ग्रामको देशके अर्थ त्यागदेवे और अपने अर्थ पृथिवीको त्यागदेवे भाव यह है जिस पुरुषके रहनेसे कुलमें दोष आता हो तो उस पुरुषको त्याग देवे और जिस कुलसे यदि ग्रामभरमें दोष आता हो तो उस कुलको त्यागदेवे और जिस ग्रामसे देशभरमें दोष आता हो तो उस ग्रामको त्यागदेवे और जिस पृथिवीसे अपनेमें दोष आता हो तो उस पृथिवीको त्यागदेवे ॥ ॥ १७ ॥ आपदाके लिये धनकी रक्षा करे और स्त्रियोंकी धनोंसे रक्षा करे और आत्माको स्त्री और धन इन दोनोंसे रक्षा करे ॥१८॥ यह जुआ कर्म पहिले कल्पमें भी नरोंके, वैर करानेवाला विद्वानोंके देखनेमें आयाथा तिससे बुद्धिमान् जन हास्यके लिये भी जुआका न सेवन करे ॥ १९ ॥ हे राजन् ! जुआ खेलनेके समय यह जो मैंने योग्य वचन कहाथा वह हे वैचित्रवीर्य ! तुमको नहीं रुचाथा जिस

तदौषधं पथ्यमिवातुरस्य,
न रोचते तव वैचित्रवीर्य ॥ २० ॥
काकैरिमांश्चित्रबर्हान्मयूरा-
न्पराजयेथाः पांडवान्धार्तराष्ट्रैः ।
हित्वा सिंहान् क्रोष्टुकान्गूहमानः,
प्राप्ते काले शोचिता त्वं नरेंद्र ॥ २१ ॥
यस्तात न क्रुध्यति सर्वकालं,
भृत्यस्य भक्तस्य हिते रतस्य ।
तस्मिन्भृत्या भर्तरि विश्वसंति,
न चैनमापत्सु परित्यजंति ॥ २२ ॥

प्रकार कि रोगीको हितकारक औषध नहीं रुचता है किन्तु कडवा लगताहै ॥ २० ॥ विचित्र पांखवाले मयूररूप इन पांडवोंको काकरूप धार्तराष्ट्र अर्थात् दुर्योधनादिकसे पराजय कराते हो और सिंहोंको छोडकर स्यारोंकी रक्षा करते हो इससे हे नरेन्द्र ! समय प्राप्त होनेपर तुम शोच करोगे ॥ २१ ॥ हे तात ! जो कि जन अपने हितमें तत्पर हुए सेवा करनेवाले नौकरके लिये सबकाल नहीं क्रोध करताहै

न भृत्यानां वृत्तिसंरोधनेन,
राज्यं धनं संजिघृक्षेदपूर्वम् ।
त्यजंति ह्येनं वंचिता वै विरुद्धाः,
स्निग्धा ह्यमात्याः परिहीनभोगाः॥२३॥
कृत्यानि पूर्वं परिसंख्याय सर्वा-
ण्यायव्यये चानुरूपां च वृत्तिम् ।
संगृह्णीयादनुरूपान्सहायान्,
सहायसाध्यानि हि दुष्कराणि ॥२४॥

उस स्वामीके विषे नौकर भी बिश्वास करते हैं और वह नौकर उस स्वामीको आपदाओंमें भी नहीं छोडसक्ते हैं॥२२॥जो नौकर जनोंकी जीविकाके बन्द करनेसे अर्थात् उन नौकरोंको मजूरी आदि न देकर अपूर्व राज्यधन संग्रह करना चाहता है उस स्वामीको मजूरीसे वंचित हुए नौकर त्यागदेतेहैं क्यों कि जिनकी कि वृत्ति हीन होजातीहै वह मंत्रीजन कैसे भी प्रिय क्यों न होवें तब भी स्वामीसे विरुद्ध होजातेहैं ॥ २३ ॥ प्रथम साध्यासाध्य निश्चय कर समस्त कर्मोंको संग्रह करे और लाभ और खर्चमें जो अनुकूल हो

अभिप्रायं यो विदित्वा तु भर्तुः,
सर्वाणि कार्याणि करोत्यतन्द्री ।
वक्ता हितानामनुरक्त आर्यः,
शक्तिज्ञ आत्मेव हि सोनुकंप्यः ॥ २५ ॥
वाक्यं तु यो नाद्रियतेऽनुशिष्टः,
प्रत्याह यश्चापि नियुज्यमानः ।
प्रज्ञाभिमानी प्रतिकूलवादी,
त्याज्यः स तादृक् त्वरयैव भृत्यः॥२६॥

उस जीविकाको संग्रह करै और अपने अनुकूल सहायकोंको भी संग्रह करै क्यों कि दुष्कर कर्म सहायकोंसे ही सिद्ध कियेजाते हैं ॥ २४ ॥ जो कि स्वामीका अभिप्राय जानकर समस्त कार्योंको निरालस्य होकर कर्ताहै और हितकारक वचनोंको कहताहै और स्वामीके विषैं सदैन ही प्रीतियुक्त रहता है और आचरणोंमें श्रेष्ठ और अपनी शक्तिको जाननेवाला है वह सेवक आत्माके समान अनुकम्पा करनेयोग्य है ॥ २५ ॥ जो कि आज्ञाकियाहुआ स्वामीके वाक्यका नहीं आदर करताहै और जो कि किसीकार्यमें नियुक्तकियाहुआ भी

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं,
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं,
दूतं वदंत्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २७ ॥
न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे,
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो,
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥ २८ ॥

लौटकर उत्तर देंताहै और जो कि अपनी बुद्धिका अभिमान करताहै और जो कि स्वामीके प्रतिकूल कहताहै वह एतादृश सेवक शीघ्र ही स्वामीको त्यागने योग्यहै ॥ २६ ॥ जो कि आठगुणोंसें युक्त हो उसको पण्डितजन दूत कहतेहैं । एक तौ ढीठ न होवै दूसरे अक्लीब अर्थात् असमर्थ न हो तीसरे शीघ्रताके कार्यमें देरकरनेवाला न हो चौथे दयायुक्त हो पांचवें श्लक्ष्ण नाम कोमलस्वभाव हो छठे दूसरोंकर भेदलेने योग्य न हो सातवें रोगजातीय न हो आठवें उदार बोलनेवाला हो ॥ २७ ॥ विश्वाससे जानताहुआ भी कदाचित् नर असमय पर दूसरेके गृहमें न जावे और रात्रिमें छिपाहुआ आगनमें न खड़ा

न निह्नवं मंत्रगतस्य गच्छे-
त्संसृष्टमंत्रस्य कुसंगतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीतो,
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥ २९ ॥
घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः,
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव,
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥ ३० ॥

होवै और न राजाकी चाहीहुई स्त्रीकी कामना करै ॥ २८ ॥ सलाह करनेको प्राप्तहुए ऐसे कुसंगी राजाकी बहुतोंकर कीहुई सलाहके अपलापको न प्राप्त होवै और यह भी न कहै कि ऐसी सलाहकरनेमें तुम्हारे विषें मैं नहीं विश्वास करताहूं, किन्तु कारणसहित बहाना करदेवै भाव यह है कि दुष्टमन्त्रियोंवाले राजाकी बहुतोंके साथ कीहुई सलाहमें पूछनेपर भी कुछ गोपनकारी वचन न कहै और न यह कहै कि ऐसी सलाह करनेमें तुम्हारे विषें मैं नहीं विश्वास करताहूं । किन्तु कुछ बहाना बनाकर दूर चलाजावै जिससे फिर सलाहको न सुनपावै ॥ २९ ॥ घृणी नाम दयावान् और राजा और व्यभिचारिणी स्त्री और राजाका दास और पुत्र और भ्राता और विधवा

अस्तब्धमक्लीबमदीर्घसूत्रं,
सानुक्रोशं श्लक्ष्णमहार्यमन्यैः ।
अरोगजातीयमुदारवाक्यं,
दूतं वदंत्यष्टगुणोपपन्नम् ॥ २७ ॥
न विश्वासाज्जातु परस्य गेहे,
गच्छेन्नरश्चेतयानो विकाले ।
न चत्वरे निशि तिष्ठेन्निगूढो,
न राजकाम्यां योषितं प्रार्थयीत ॥ २८ ॥

लौटकर उत्तर देदेताहै और जो कि अपनी बुद्धिका अभिमान करताहै और जो कि स्वामीके प्रतिकूल कहताहै वह एतादृश सेवक शीघ्र ही स्वामीको त्यागने योग्यहै ॥ २६ ॥ जो कि आठगुणोंसे युक्त हो उसको पण्डितजन दूत कहतेहैं । एक तो ढीट न होवे दूसरे अक्लीब अर्थात् असमर्थ न हो तीसरे शीघ्रताके कार्यमें देरकरनेवाला न हो चौथे दयायुक्त हो पांचवें श्लक्ष्ण नाम कोमलस्वभाव हो छठे दूसरोंकर भेदलेने योग्य न हो सातवें रोगजातीय न हो आठवें उदार बोलनेवाला हो ॥ २७ ॥ विश्वाससे जानताहुआ भी कदाचित् नर असमय पर दूसरेके गृहमें न जावे और रात्रिमें छिपाहुआ आंगनमें न खडा

न निह्नवं मंत्रगतस्य गच्छे-
त्संसृष्टमंत्रस्य कुसंगतस्य ।
न च ब्रूयान्नाश्वसिमि त्वयीतो,
सकारणं व्यपदेशं तु कुर्यात् ॥ २९ ॥
घृणी राजा पुंश्चली राजभृत्यः,
पुत्रो भ्राता विधवा बालपुत्रा ।
सेनाजीवी चोद्धृतभूतिरेव,
व्यवहारेषु वर्जनीयाः स्युरेते ॥ ३० ॥

होवै और न राजाकी चाहीहुई स्त्रीकी कामना करै ॥ २८ ॥ सलाह करनेको प्राप्तहुए ऐसे कुसंगी राजाकी बहुतोंकर कीहुई सलाहके अपलापको न प्राप्त होवै और यह भी न कहे कि ऐसी सलाहकरनेमें तुम्हारे विषै मैं नहीं विश्वास करताहौं, किन्तु कारणसहित बहाना करदेवै भाव यह है कि दुष्टमन्त्रियोंवाले राजाकी बहुतोंके साथ कीहुई सलाहमें पूछनेपर भी कुछ गोपनकारी वचन न कहै और न यह कहै कि ऐसी सलाह करनेमें तुम्हारे विषै मैं नहीं विश्वास करताहौं। किन्तु कुछ बहाना बताकर दूर चलाजावै जिससे फिर सलाहको न बुलायाजावै ॥ २९ ॥ घृणी नाम लज्जावान् और राजा और व्यभिचारिणी स्त्री और राजाका दास और पुत्र और भ्राता और विधवा

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयंति,
प्रज्ञा च कौल्यं च श्रुतं दमश्च ।
पराक्रमश्च बहुभाषिता च,
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ ३१ ।
एतान्गुणांस्तात महानुभावा-
नेको गुणः संश्रयते प्रसह्य ।
राजा यदा सत्कुरुते मनुष्यं,
सर्वान्गुणानेष गुणो बिभर्ति ॥ ३२ ॥

स्त्री और जिसके पुत्र बालक हों ऐसी स्त्री और सेनासे जीविका करनेवाला और जिसका कि अधिकार दूर करदियागया हो यह जन व्यवहारोंके विषे बुद्धिमानको सदैव त्यागनेयोग्यहैं ॥ ३० ॥ आठ गुण पुरुषको प्रकाशमान करतेहैं एक तो बुद्धि, दूसरी कुलीनता, तीसरा शास्त्राभ्यास, चौथा इन्द्रियोंका वश रखना, पाचवां पराक्रम छठा बहुत न बोलना, सातवां यथाशक्ति दान, आठवीं कृतज्ञता अर्थात उपकारका जानना ॥ ३१ ॥ हे तात ! इन महत् प्रभाववाले गुणोंको एकगुण ही बलात्कारसे आश्रय करता है जो कि प्रभु होकर मनुष्यका सत्कार करतारहता है यह परसत्काररूप गुण सब

गुणा दश स्नानशीलं भजंते,
बलं रूपं स्वरवर्णप्रशुद्धिः।
स्पर्शश्च गंधश्च विशुद्धता च,
श्रीः सौकुमार्यं प्रवराश्च नार्यः ॥ ३३ ॥
गुणाश्च षण्मितभुक्तं भजंते,
आरोग्यमायुश्च बलं सुखं च।
अनाविलं चास्य भवत्यपत्यं,
न चैनमाद्यून इति क्षिपंति ॥ ३४ ॥
अकर्मशीलं च महाशनं च,
लोकद्विष्टं बहुमायं नृशंसम्।

गुणोंको धारण करलेता है ॥ ३२ ॥ जो कि स्नानशील है अर्थात् नित्य स्नान करनेवाला है उसको दश गुण सेवा करतेहैं एक तो बल, दूसरा रूप, तीसरी स्वरकी शुद्धता और चौथी वर्णोंकी शुद्धता, पांचवां स्पर्श, छठा गन्ध, सातवीं विशुद्धता आठवीं कान्ति नवीं सुकुमारता दशवीं उत्तमस्त्रियां ॥ ३३ ॥ प्रमाणका भोजन करनेवालेको छै गुण सेवा करतेहैं एक तो आरोग्य दूसरी आयु तीसरा बल चौथा सुख और पांचवां जो कि उसके आरोग्यादि गुणयुक्त सन्तान होयहैं और छठा जो कि जन उसको यह बहुत खानेवाला है इस प्रकार नहीं आक्षेप करतेहैं ॥ ३४ ॥ जो कि अकर्म करनेवाला है और

अदेशकालज्ञमनिष्टवेष-
मेतान् गृहे न प्रतिवासयेत ॥ ३५ ॥
कदर्यमाक्रोशकमश्रुतं च,
वनौकसं धूर्तममान्यमानिनम् ।
निष्ठुरिणं कृतवैरं कृतघ्न-
मेतान्भृशार्त्तोऽपि न जातु याचेत् ॥३६॥
संक्लिष्टकर्माणमतिप्रमादं,
नित्यानृतं चादृढभक्तिकं च ।
विसृष्टरागं पटुमानिनं चाप्ये-
तान्न सेवेत नराधमान् षट् ॥ ३७ ॥

जो कि बहुत भोजन करनेवाला है और जो कि जनोंसे द्वेष रखता है और बहुतमायावी है और जो कि क्रूर है और जो कि देशकालका जाननेवाला नहीं है और जिसका वेष उत्तम नहीं हो इनको अपने गृहमें कदाचित् भी न ठहरावो॥३५॥ जो कि कृपण है और जो कि निन्दक है और जो कि मूर्ख है और जो कि वनमें रहनेवाला है और जो कि धूर्त है और जो कि मानके अयोग्यका मान करता हो और जो कि निर्दय और जिसने अपनेसे वैर किया हो और जो कि उपकारको नाश करता है इन नौ जनोंसे कदाचित् भी न मांगे ॥३६ ॥ संक्लिष्टकर्मा अर्थात् आततायी और अतिप्रमादवाला तथा सदा झूंठ बोल-

सहायबंधना ह्यर्थाः सहायाश्चार्थबंधनाः ।
अन्योन्यबंधनावेतौ विनान्योन्यं न सिध्यतः३८
उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा,
वृत्तिं च तेभ्योऽनुविधाय कांचित् ।
स्थाने कुमारीः प्रतिपाद्य सर्वा,
अरण्यसंस्थोऽथ मुनिर्बुभूषेत् ॥ ३९ ॥
हितं यत्सर्वभूतानामात्मनश्च सुखावहम् ।
तत्कुर्यादीश्वरे ह्येतन्मूलं सर्वार्थसिद्धये ॥ ४० ॥

नेवाला और अद्दढभक्तिवाला और जिसने स्नेहत्यागदिया हो और जो अपनेको चतुर मानता हो इन छै नीच नरोंका कदापि न सेवन करै॥३७॥ सहायकोंके बाँधनेवाले धन होतेहैं और धनोंके बांधनेवाले सहायक होतेहैं अर्थात् धनोंसे सहायक प्राप्त होतेहैं और सहायकोंसे धन प्राप्त होताहै यह दोनों एक दूसरेके परस्पर प्राप्त करनेवाले हैं इनमें एक दूसरेके विना दोनों नहीं सिद्ध होतेहैं ॥ ३८ ॥ पुत्रोंको जन्माय फिर उनको विना ऋणके कर फिर उनके लिये कोई जीविका विधान कर और इसीप्रकार समस्त कुमारी पुत्रियोंको भी पतियोंके स्थानमें स्थित कर वनमें स्थित हुआ मुनि होनेकी इच्छा करै ॥ ३९ ॥ जो कि समस्त प्राणियोंका हित और अपने सुख देनेवाला है उसी कर्मको

वृद्धिः प्रभावस्तेजश्च सत्त्वमुत्थानमेव च ।
व्यवसायश्च यस्य स्यात्तस्यावृत्तिभयं कुतः ४१॥

पश्य दोषान्पांडवैर्विग्रहे त्वं,
यत्र व्यथेयुरपि देवाः सशक्राः ।
पुत्रैर्वैरं नित्यमुद्विग्नवासो,
यशःप्रणाशो द्विषतश्च हर्षः ॥ ४२ ॥
भीष्मस्य कोपस्तव चैवेंद्रकल्प,
द्रोणस्य राज्ञश्च युधिष्ठिरस्य ।
उत्सादयेल्लोकमिमं प्रवृद्धः,
श्वेतो ग्रहस्तिर्यगिवापतन् खे ॥ ४३ ॥

करै क्यों कि राजाके विषे सर्वार्थ सिद्धिके लिये यह ही मूल है॥४०॥ जिसके बुद्धि और प्रभाव और तेज और सत्त्व नाम बल और उद्यम और निश्चय बनारहता है उसको जीविका भय किसीतरह नहीं होताहै किन्तु उसकी जीविका सदैव बनी रहती है ॥४१॥ हे राजन् ! पांडवोंके साथ विग्रह करनेमें यह दोष देखिये जिनके होनेपर वैर इंद्रसहित देवता भी व्यथित होतेहैं । एक तो पुत्रोंके साथ वैर दूसरा नित्य भयभीत होकर वास तीसरा कीर्तिका नाश चौथा वैरियोंको हर्ष ॥ ४२॥ हे राजन् ! भीष्मजीका और हे इन्द्रके समान तुम्हारा और द्रोणाचार्य और

तव पुत्रशतं चैव कर्णः पंच च पांडवाः ।
पृथिवीमनुशासेयुरखिलां सागरांबराम् ॥ ४४॥
धार्तराष्ट्रा वनं राजन् व्याघ्राः पांडुसुता मताः ।
मा वनं छिंधि सव्याघ्रं मा व्याघ्रानीनशन्वनात्४५
नस्याद्वनमृते व्याघ्रान् व्याघ्रा न स्युर्ऋते वनम् ।
वनं हि रक्ष्यते व्याघ्रैर्व्याघ्रान्रक्षति काननम् ४६॥
न तथेच्छंति कल्याणान्परेषां वेदितुं गुणान् ।
यथैषां ज्ञातुमिच्छंति नैर्गुण्यं पापचेतसः ॥४७॥

युधिष्ठिर राजाका अति बढाहुआ क्रोध इस समस्त लोकका नाश करसक्ताहै जिसप्रकार श्वेत नाम धूमकेतु ग्रह आकाशमें तिरछा होकर उदयहुआ समस्त लोकोंका नाश करदेताहै ॥४३॥ तुम्हारे सौ पुत्र और कर्ण और पांचों पांडव यह समस्त समुद्र है वस्त्र जिसके ऐसी सब पृथिवीका नाश करसक्तेहैं ॥ ४४ ॥ हे राजन् ! धार्तराष्ट्र अर्थात् दुर्योधनादिक तौ वन हैं और पांडुके पुत्र व्याघ्र हैं सो तुम व्याघ्रसहित वनको मत काटो और वनसे व्याघ्र भी नहीं नाशको प्राप्त होवें ॥ ४५ ॥ व्याघ्रोंके विना वन नहीं रहताहै और वनके विना व्याघ्र नहीं रहसक्ते हैं क्यों कि, व्याघ्रोंसे वन रक्षित रहताहै और वन व्याघ्रोंकी रक्षा करता है ॥ ४६ ॥ पापात्मा जन दूसरोंके शुभगुण जाननेको तैसी नहीं

अर्थसिद्धिं परामिच्छन् धर्ममेवादितश्चरेत् ।
न हि धर्मादपैत्यर्थः स्वर्गलोकादिवामृतम्॥४८॥
यस्यात्मा विरतः पापात्कल्याणे च निवेशितः ।
तेन सर्वमिदं बुद्धं प्रकृतिर्विकृतिश्च या ॥ ४९॥
यो धर्ममर्थं कामं च यथाकालं निषेवते ।
धर्मार्थकामसंयोगं सोऽमुत्रेह च विंदति ॥ ५०॥
सन्नियच्छति यो वेगमुत्थितं क्रोधहर्षयोः ।
स श्रियो भाजनं राजन्यश्चापत्सु न मुह्यति५१॥

इच्छा करतेहैं जैसी कि दूसरोंकी निर्गुणता जाननेकी इच्छा करतेहैं ॥ ॥ ४७ ॥ उत्तम अर्थ सिद्धिके चाहनेवाला आदिसे ही धर्मका सेवन करै क्यों कि धर्मसे अर्थ नहीं पृथक् होताहै जिसप्रकार कि स्वर्गसे अमृत नहीं पृथक् होताहै ॥ ४८ ॥ जिसका आत्मा पापसे तो रुका हुआ है और शुभकर्ममें निवेशित है उसने यह सब जानलिया है जो कि प्रकृति और विकृति है ॥ ४९ ॥ जो कि धर्म और अर्थ और कामको कालके अनुसार सेवन करताहै वह इस लोक और परलोक दोनोंमें धर्म अर्थ और काम इन तीनोंके संयोगको प्राप्त होताहै ॥ ॥ ५० ॥ जो कि क्रोध और हर्ष इन दोनोंके उठे हुए वेगको रोक

बलं पंचविधं नित्यं पुरुषाणां निबोध मे ।
यत्तु बाहुबलं नाम कनिष्ठं बलमुच्यते ॥ ९२ ॥
अमात्यलाभो भद्रं ते द्वितीयं बलमुच्यते ।
तृतीयं धनलाभं तु बलमाहुर्मनीषिणः ॥ ९३ ॥
यत्त्वस्य सहजं राजन् पितृपैतामहं बलम् ।
अभिजातबलं नाम तच्चतुर्थं बलं स्मृतम् ॥९४॥
येन त्वेतानि सर्वाणि संगृहीतानि भारत ।
यद्बलानां बलं श्रेष्ठं तत्प्रज्ञाबलमुच्यते ॥ ९५॥

लेताहै और जो कि आपदाओंके विषे नहीं मोहित होताहै हे राजन् वह ही लक्ष्मीका पात्र होताहै ॥ ९१ ॥ पुरुषोंका सदैवसे पांचप्रकार का बल है उसको मुझसे श्रवण करिये । जो कि बाहुबल है वह सब से छोटा बल मुनिजनोंने कहाहै ॥ ९२ ॥ और जो कि उत्तम २ मन्त्रियोंका लाभ है वह दूसरा बल है और जो कि धनका लाभ है उसको तीसरा बल पंडित जन कहतेहैं इन दोनों बल होनेसे तुम्हारे मंगल होरहाहै ॥ ९३ ॥ हे राजन् ! जो कि इस जनका पितृपिता-मह सम्बन्धी सहज बल है उसका कुलबल नाम है वह चतुर्थ बल कहाताहै ॥ ९४ ॥ हे भारत ! जिस बलकर यह समस्तबल इकट्ठे

महते योपकाराय नरस्य प्रभवेन्नरः ।
तेन वैरं समासज्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ५६
स्त्रीषु राजसु सर्पेषु स्वाध्यायप्रभुशत्रुषु ।
भोगेष्वायुषि विश्वासं कः प्राज्ञः कर्तुमर्हति ५७ ॥
प्रज्ञाशरेणाभिहतस्य जंतो-
श्चिकित्सकाः संति न चौषधानि ।
न होममन्त्रा न च मंगलानि,
नाथर्वणा नाप्यगदाः सुसिद्धाः ॥ ५८॥

कियेहुए हैं और जो समस्तबलोंमें श्रेष्ठ बल है वह बुद्धिबल कहाहै ॥ ॥ ५५ ॥ जो कि नर नरके बडे भारी अपकार करनेके लिये समर्थ होताहै उसके साथ वैर रोपकर ऐसा न विश्वास करै कि मैं उससे दूर हौं वह मेरा क्या करसक्ता है ॥ ५६ ॥ स्त्रियोंमें और राजाओंमें और सर्पोंमें और स्वाध्याय नाम वेदाभ्यासमें और समर्थमें और शत्रुओंमें और भोगविषयोंमें और शरीरकी अवस्थामें विश्वास करनेको ऐसा कौन विद्वान् है जो योग्य होसक्ताहै ॥ ५७ ॥ बुद्धिरूप बाणकर मारेहुए जन्तुके जिवानेवाले चिकित्सक होतेहैं न औषध होतेहैं न होममन्त्र होतेहैं न मंगलकर्म होतेहैं और न अथर्वणवेदके कहेहुए मन्त्र तंत्र यंत्रादि होतेहैं । और न सुन्दर सिद्ध कियेहुए धातुकाष्ठादिमय

सर्पश्चाग्निश्च सिंहश्च कुलपुत्रश्च भारत।
नावज्ञेया मनुष्येण सर्वे ह्येतेऽतितेजसः ॥ ५९॥
अग्निस्तेजो महल्लोके गूढस्तिष्ठति दारुषु।
न चोपयुंक्ते तद्दारु यावन्नोद्दीप्यते परैः ॥ ६० ॥
स एव खलु दारुभ्यो यदा निर्मथ्य दीप्यते।
तद्दारु च वनं चान्यन्निर्दहत्याशु तेजसा ॥ ६१॥
एवमेव कुले जाताः पावकोपमतेजसः।
क्षमावंतो निराकाराः काष्ठेऽग्निरिव शेरते॥६२॥

औषध समूह होतेहैं ॥ ५८ ॥ हे भारत! एक तो सर्प, दूसरा अग्नि, तीसरा सिंह, चतुर्थ कुलपुत्र यह मनुष्य कर नहीं तिरस्कार करनेयोग्य हैं क्यों कि यह समस्त अतितेजस्वी होतेहैं ॥ ॥ ५९ ॥ संसारमें जिस अग्निका बडाभारी तेज होताहै वह अग्नि काष्ठोंमें छिपाहुआ स्थित रहताहै और उस काष्ठको नहीं जलाताहै जबतक कि दूसरोंकर नहीं प्रदीप्त कियाजाता है ॥ ॥ ६० ॥ जब कि काष्ठोंसे मथकर वह अग्निप्रदीप्त कियाजाता है तब उस काष्ठको और अन्य वनको अपने तेजसे शीघ्र ही जला देताहै ॥ ६१ ॥ इसीप्रकार उत्तम कुलमें उत्पन्नहुए कुलीन जन होतेहैं जिनका तेज अग्निके समान होताहै और क्षमावान् हुए निश्चे-

लताधर्मा त्वं सपुत्रः शालाः पांडुसुता मताः ।
न लता वर्धते जातु महाद्रुममनाश्रिता ॥ ६३ ॥
वनं राजंस्तव पुत्रोऽम्बिकेय,
सिंहान्वने पांडवांस्तात विद्धि ।
सिंहैर्विहीनं हि वनं विनश्येत्,
सिंहा विनश्येयुर्ऋते वनेन ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥ [९]

भिन्न होकर सोवतं रहतेहैं जिसप्रकार कि काष्ठमें अग्नि सोवतारहता है ॥ ६२ ॥ हे राजन् ! पुत्रोंसहित आप लताधर्म हैं और पाण्डुके पुत्र शालवृक्ष हैं सो महत् वृक्षको नहीं आश्रितहुई लता कदाचित् भी नहीं बढसक्ती है ॥ ६३ ॥ हे राजन् ! हे आंबिकेय तुम्हारे पुत्र वन हैं और उस वनमें पाण्डवोंको हे तात ! तुम सिंह जानियें सिंहोंसे विहीन हुआ वन नष्ट होजाताहै और वनके विना सिंह नष्ट होजातेहैं ॥ ६४ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंस-पंडितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचि-तमापातिलके सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥३७॥ [९]

विदुर उवाच।

ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामंति यूनः स्थविर आयति।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते॥ १॥
पीठं दत्त्वा साधवेऽभ्यागताय,
आनीयापः परिनिर्णिज्य पादौ।
सुखं पृष्ट्वा प्रतिवेद्यात्मसंस्थां,
ततो दद्यादन्नमवेक्ष्य धीरः॥ २॥
यस्योदकं मधुपर्कं च गां च,
न मंत्रवित्प्रतिगृह्णाति गेहे।
लोभाद्भयादथ कार्पण्यतो वा,
तस्यानर्थं जीवितमाहुरार्याः॥ ३॥

इसके अनन्तर फिर विदुरजी महाराज कहनेलगे कि हे राजन्! वृद्धके अपनेप्रति आनेते सतें तरुणजनके प्राण ऊपरको निकलकर चलनेलगते हैं फिर उस वृद्धका प्रत्युत्थान और प्रणाम करनेके पश्चात् उन प्राणोंको फिर प्राप्त होजाताहै॥ १॥ आयेहुए सज्जनके लिये प्रथम आसन दे और जल लाकर उसके चरणोंको धोय फिर कुशल पूछि तदनन्तर अपनी व्यवस्था जनाय फिर अन्नको शुद्ध करके उसके लिये धीरजन देवै॥ २॥ जिसके घरमें वेदवेत्ता अतिथि जल मधु-

चिकित्सकः शल्यकर्तावकीर्णी,
स्तेनः क्रूरो मद्यपो भ्रूणहा च ।
सेनाजीवी श्रुतिविक्रायकश्च,
भृशं प्रियोऽप्यतिथिर्नोदकार्हः ॥ ४ ॥
अविक्रेयं लवणं पक्वमन्नं,
दधि क्षीरं मधु तैलं घृतं च ।
तिला मांसं फलमूलानि शाकं,
रक्तं वासः सर्वगंधा गुडाश्च ॥ ५ ॥

धर्म और वाणीको लोभ वा कृपणतासे नहीं ग्रहण करताहै उसके जीवनको आर्यजन अनर्थ कहतेहैं ॥ ३ ॥ चिकित्साकरनेवाला और बाणबनानेवाला और अवकीर्णी अर्थात् जिसका कि ब्रह्मचर्य नष्ट होगया हो और चोर और क्रूर और मदिरापीनेवाला और गर्भपात करनेवाला और सेनासे जीविका करनेवाला और वेदको बेचनेवाला ऐसा जल देनेकेयोग्य नहीं है तब भी अतिथि होकर आयाहुआ अत्यन्त प्रिय होना चाहिये ॥ ४ ॥ लवण और पकाहुआ अन्न और दधि और दुग्ध तथा शहद तैल घृत तिल मांस और फल मूल शाक और लालवस्त्र और सबप्रकारके गन्ध और गुड यह नहीं बेचनेयो

अरोषणो यः समलोष्टाश्मकांचनः,
प्रहीणशोको गतसंधिविग्रहः।
निंदाप्रशंसोपरतः प्रियाप्रिये,
त्यजन्नुदासीनवदेष भिक्षुकः ॥ ६ ॥
नीवारमूलेंगुदशाकवृत्तिः
सुसंयतात्माग्निकार्येषु चोद्यः।
वने वसन्नतिथिष्वप्रमत्तो,
धुरंधरः पुण्यकृदेष तापसः ॥ ७ ॥

ग्यहै ॥ ५ ॥ जो कि किसीपर नहीं क्रोध करता है और जिसके एकसमान ही लोहा पत्थर सुवर्ण है और जिसका शोक दूर होगयाहै और जिसके सलाहकरना तथा विग्रह करना यह दोनों नहीं विद्यमान हैं और जो कि निन्दा और प्रशंसा दोनोंसे पृथक है और जो कि उदासीनके समान प्रिय और अप्रिय दोनोंके त्यागनेवाला है सो यह ही सन्न्यासी है इस कथनसे यह जनायागया कि जब कि दोषवान् अतिथि पूजनेयोग्य है.तौ फिर क्या कहना कि एतादृश गुणवाला अतिथि होवेतौ पूजनेयोग्य ॥ ६ ॥ जिसकी कि वृत्ति नीवार और मूल और इंगुदी और शाकसे होवेहै और जिसने मनका संयम कियाहै और जो कि अग्निकार्यमें उद्यत रहताहै और वनमें ही रहताहै और

अपकृत्य बुद्धिमतो दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः ८ ॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृंतति ॥ ९ ॥
अनीर्षुर्गुप्तदारश्च संविभागी प्रियंवदः ।
श्लक्ष्णो मधुरवाक् स्त्रीणां न चासां वशगो भवेत् १०
पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयः ।

अतिथियोंके सत्कारमें असावधान नहीं है और पुण्यकरनेवाला है सो यह ही तपस्वी है ॥ ७ ॥ बुद्धिमान्का अपकार करके ऐसा न विश्वास करे कि मैं उससे दूर बसता हूँ यह मेरा क्या करसक्ता है क्यों कि बुद्धिमानकी बाहु दीर्घ होतीहै यह बुद्धिमान दूसरोंकर हिंसा किया-हुआ जिन्हीं बाहुओंसे दूसरोंकी हिंसा करदेताहै ॥ ८ ॥ जो कि विश्वासके योग्य न होवे उसके विषें न विश्वास करे और जो विश्वा-सके योग्य होवे उसके विषें भी न अतिविश्वास करे कारण कि विश्वास से उत्पन्न हुआ भय जड़को भी काट देता है ॥ ९ ॥ संसारमें जन ईर्षाकरनेवाला न होवे और गुप्तदार अर्थात् स्त्रियोंका रक्षक हो और संपदाओंके यथावत् बाँटनेवाला हो और प्रिय बोलनेवाला हो और श्लक्ष्ण अर्थात् कोमल स्वभाव हो और स्त्रियोंके मध्यमें मधुर भाषी हो और उन स्त्रियोंके वशवर्ती न होवे ॥ १० ॥ स्त्रियां पूजा

स्त्रियःश्रियोगृहस्योक्तास्तस्माद्रक्ष्या विशेषतः ११
पितुरंतःपुरं दद्यान्मातुर्दद्यान्महानसम्।
गोषु चात्मसमं दद्यात्स्वयमेव कृषिं व्रजेत् १२ ॥
भृत्यैर्वाणिज्यचारं च पुत्रैः सेवेत च द्विजान्।
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् १३

करनेयोग्य और बडे भागवाली तथा पुण्यात्मा और गृहका प्रकाश और साक्षात् घरकी लक्ष्मी पूर्वजोंने कहीहैं जिससे स्त्रियोंकी विशेषकर रक्षा करनी चाहिये ॥ ११ ॥ पिताके अधिकारमे अन्तःपुर अर्थात् स्त्रियोंके रहनेका स्थान देदेवे और माताके अधिकारमें रसोईका स्थान देदेवे और गौ आदि पशुओंकी रक्षा में अपने समान विश्वास कियेहुए जनको नियुक्त करदेवे। और कृषिके अवलोकनमें स्वयं ही प्राप्त होवे ॥ १२ ॥ और भृत्य नाम नौकर चाकरोंके द्वारा वाणिज्य वृत्तिका सेवन करे और पुत्रोंके द्वारा ब्राह्मणोंका सेवन करे जलोंसे अग्नि उत्पन्न हुआहै और ब्राह्मणसे क्षत्रिय उत्पन्न हुआहै और पत्थरसे लोहा उत्पन्न हुआहै उन अग्नि आदिकोंका तेज सबजगह जाताहै पर अपनी अपनी योनि अर्थात् अपनी२ उत्पत्तिके स्थानमें जाकर शान्त होजाताहै इस कथनसे यह जानागया कि क्षत्रिय ब्राह्मणके विषें कदाचित् भी कोप नहीं करताहै किन्तु अपनी उत्पत्तिका स्थान जान

तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ।
नित्यं संतः कुले जाताः पावकोपमतेजसः१४ ॥
क्षमावंतो निराकाराः काष्ठेग्निरिव शेरते ।
यस्य मंत्रं न जानंति बाह्याश्चाभ्यंतराश्च ये १५
स राजा सर्वतश्चक्षुश्चिरमैश्वर्यमश्नुते ।
करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ॥ १६॥
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।
गिरिपृष्ठमुपारुह्य प्रासादं वा रहोगतः ॥ १७ ॥

फर उसके विषैं शान्त होजाताहे ॥ १३ ॥ उत्तमकुलमें उत्पन्न हुए सज्जन सदा अग्निके समान तेजवाले रहतेहैं पर क्षमा धारणकिये निश्चेष्टितसे हुए सोतते रहतेहैं जिसप्रकार कि काष्ठमें अग्नि निश्चेष्टित हुआ सोवता रहताहै ॥ १४ ॥ जो कि बाहिर रहनेवाले तथा भीतर रहनेवाले भृत्यादि हैं वह जिस राजाकी कीहुई सलाहको नहीं जानते हैं वह सब तरफ नेत्र रखनेवाला राजा बहुत कालपर्यन्त ऐश्वर्य भोगताहै ॥ १५ ॥ कार्यके करनेवाला कार्य होनेसे पूर्व ही उस कार्यको दूसरेसे न कहे किन्तु कियेहुए धर्म, काम, अर्थ सम्बन्धी कार्योंको दूसरोंके लिये दिखावे ऐसा करनेपर मन्त्र नहीं भेदको प्राप्त होताहै ॥ ॥ १६ ॥ पर्वतके पृष्ठ वा प्रासाद नाम मन्दिर पर चढकर वा एकान्त

अरण्ये निःशलाके वा तत्र मन्त्रोऽभिधीयते ।
नासुहृत्परमं मन्त्रं भारतार्हति वेदितुम् ॥ १८ ॥
अपंडितो वापि सुहृत्पंडितो वाप्यनात्मवान् ।
नापरीक्ष्य महीपालः कुर्यात्सचिवमात्मनः १९॥
अमात्ये ह्यर्थलिप्सा च मंत्ररक्षणमेव च ।
कृतानि सर्वकार्याणि यस्य पारिषदा विदुः२०॥
धर्मे चार्थे च कामे च स राजा राजसत्तमः ।
गूढमंत्रस्य नृपतेस्तस्य सिद्धिरसंशयम् ॥ २१ ॥

में स्थित हुआ वा तृणोंसे न ढकेहुए वनमें जाकर सलाह करै क्यों कि मन्त्रवेत्ताओंने तिन पूर्वोक्त स्थानोंमे ही बैठकर सलाह करना कहा है ॥ १७ ॥ हे भारत ! जो मित्र नहीं है वह सलाहके नहीं जानने योग्य होताहै अथवा जो मित्र है पर मूर्ख है वह भी सलाहकेजाननेयोग्य नहीं होताहै और जो कि मित्र पंडित है पर चपलवाक् है वह भी सलाहके नहीं जाननेयोग्य होताहै ॥ १८ ॥ पृथिवीकी रक्षा करनेवाला राजा विना परीक्षा करे अपना मन्त्री न करै ॥ १९॥ क्यों कि मंत्रीके विषैं ही अर्थोंके प्राप्त होनेकी इच्छा और मत्रकी रक्षा होवैहै सभामें बैठनेवाले भृत्यादिक जिसके कियेहुए ही धर्म, अर्थ, काम सम्बन्धी कार्योंको जानतेहैं वह राजा राजोंमें उत्तम मानाजाताहै ॥

अप्रशस्तानि कार्याणि यो मोहादनुतिष्ठति ।
स तेषां विपरिभ्रंशाद्भ्रश्यते जीवितादपि ॥ २२॥
कर्मणां तु प्रशस्तानामनुष्ठानं सुखावहम् ।
तेषामेवाननुष्ठानं पश्चात्तापकरं मतम् ॥ २३ ॥
अनधीत्य यथा वेदान्न विप्रः श्राद्धमर्हति ।
एवमश्रुतषाड्गुण्यो न मंत्रं श्रोतुमर्हति ॥ २४ ॥
स्थानवृद्धिक्षयज्ञस्य षाड्गुण्यविदितात्मनः ।
अनवज्ञातशीलस्य स्वाधीना पृथिवी नृप॥२५॥

जिस राजाकी सलाह गुप्त रहती है उस राजाकी सिद्धि निस्संशय होवे है ॥ २० ॥ २१ ॥ जो कि अशुभ कर्मोंका मोहसे सेवन करताहै वह उन अशुभ कर्मोंके भ्रष्ट होनेसे जीवितसे भी भ्रष्ट होजाताहै ॥ २२ ॥ पूर्वजोंने उत्तम कर्मोंका सेवन सुखदायक मानाहै और उन्हीं उत्तम कर्मोंका असेवन पश्चात्ताप करनेवाला मानाहै ॥ ॥ २३ ॥ जिसप्रकार कि वेदोंको न पढकर ब्राह्मण श्राद्धके नहीं योग्य होताहै तिसप्रकार जिसने कि सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयण यह छै गुण नहीं जानेहैं वह मंत्र सुननेके नहीं योग्य होताहै ॥ २४ ॥ हे नृप ! जो कि राज्यकी स्थिति और वृद्धि तथा क्षयके जाननेवाला है और जिसका कि, आत्मा संधि, विग्रह,

अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्वान्ववेक्षिणः।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदेव वसुंधरा ॥ २६ ॥
नाममात्रेण तुष्येत च्छत्रेण च महीपतिः।
भृत्येभ्यो विसृजेदर्थान्नैकः सर्वहरो भवेत ॥२७॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणो वेद भर्ता वेद स्त्रियं तथा।
अमात्यं नृपतिर्वेद राजा राजानमेव च ॥ २८ ॥
न शत्रुर्वशमापन्नो मोक्तव्यो वध्यतां गतः।

यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रयण इन छै गुणोंके जाननेमें प्रसिद्ध है और जो कि निन्दितस्वभाव नहीं है उस राजाकी पृथिवी स्वाधीन होतीहै ॥ २५ ॥ जिसका क्रोध होना और हर्ष होना निष्फल नहीं होताहै और जो स्वयं अपने भृत्यादिकोंके कियेहुए कार्यको देखनेवाला है और जिसने स्वय ही अपनी दृष्टिमात्रसे अपना खजाना जानाहै उस राजाकी पृथिवी धनोंके देनेवाली होतीहै ॥ २६ ॥ राजा केवल अपने नाममात्रकर तथा छत्रकर ही सन्तुष्ट रहे और अपने हाथसे इकट्ठे किये धनादिकोंको भृत्यादिकोंके लिये यथायोग्य देदेवे और उन समस्त धनादिकोंका भोगनेवाला अकेला ही न होवै॥ ॥ २७ ॥ ब्राह्मणब्राह्मणको जानताहै भर्त्ता स्त्रीको जानताहै राजा मंत्रीको जानताहै और राजा राजाको भी जानताहै ॥ २८ ॥ बन्धनको प्राप्त होकर वशको प्राप्तहुआ शत्रु नहीं छोडनेयोग्य है किन्तु

न्यग्भूत्वा पर्युपासीत वध्यं हन्याद्बले सति ।
अहताद्धि भयं तस्माज्जायते नचिरादिव ॥ २९॥
दैवतेषु प्रयत्नेन राजसु ब्राह्मणेषु च ।
नियंतव्यः सदा क्रोधो वृद्धबालातुरेषु च ३० ॥
निरर्थं कलहं प्राज्ञो वर्जयेन्मूढसेवितम् ।
कीर्तिं च लभते लोके न चानर्थेन युज्यते ३१॥
प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारमिच्छंति षंढं पतिमिव स्त्रियः॥३२॥
न बुद्धिर्धनलाभाय न जाड्यमसमृद्धये ।

उस वँधेहुए शत्रुको तिरछा होकर ही सबकालमें देखता रहै और यदि अपना बल होवै तौ उसको मार भी डारै ॥ २९ ॥ देवता, राजा, ब्राह्मण और वृद्ध तथा बालक और आतुर इनके विषें सदैव ही यत्नसे क्रोध रोकने योग्यहै ॥ ३० ॥ जो कि मूर्खोंकर सेवन कियाजाता है उस निरर्थक कलहको जो बुद्धिमान है वह त्यागदेताहै वह संसारमें कीर्त्ति पाताहै और अनर्थसे कभी नहीं युक्त होताहै ॥ ॥ ३१ ॥ जिसकी प्रसन्नता निष्फल होतीहै और क्रोध भी निरर्थक होताहै उस राजाको प्रजा अपना भर्त्ता करना नहीं चाहतीहै जिस-प्रकार कि स्त्रियां नपुंसकको अपना भर्त्ता करना नहीं चाहतीहैं ॥ ॥ ३२ ॥ मनुष्यकी बुद्धि धनलाभके लिये नहीं होवैहै और न

लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः॥ ३३॥
विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥३४॥
अनार्यवृत्तमप्राज्ञमसूयकमधार्मिकम् ।
अनर्थाः क्षिप्रमायांति वाग्दुष्टं क्रोधनं तथा ३५॥
अविसंवादनं दानं समयस्याव्यतिक्रमः ।

मूर्खता दरिद्रताके लिये होवेहै किन्तु धनके मिलनेमें और दरिद्रता होनेमें पर्यायवृत्तान्त अर्थात् इसलोकमें जो कि परलोकवाला कर्मफल है उसको बुद्धिमान् जानताहै और अन्य मूर्ख नहीं जानताहै । भाव यह है । न तो मनुष्यकी बुद्धिसे धन होताहै और न मूर्खतासे दरिद्रता किन्तु धन मिलना और दरिद्रता यह दोनों पूर्वकर्मफलके आधीन हैं ऐसा बुद्धिमान् जन जानताहै न कि मूर्ख ॥ ३३ ॥ हे भारत। जो कि विद्या और शील और अवस्था करके वृद्ध हैं और जो कि बुद्धि करके वृद्ध हैं और जो कि धन और कुल करके वृद्ध हैं उनका मूढ जन सदाही अवमान करता रहताहै॥३४॥ जो कि श्रेष्ठ आचारवाला नहीं है और जो कि मूर्ख है और जो कि निन्दक है और जो कि धर्मज्ञ नहीं है और जो कि वचन बोलनेमें दुष्ट है और जो कि क्रोधस्वभाववाला है उसके अति अनर्थ शीघ्र ही आजातेहैं ॥ ३५ ॥ अप्रियवचनवर्जित दान और मर्यादाका उल्लंघन करना और भली-

आवर्तयंति भूतानि सम्यक् प्रणिहिता च वाक् २६
अविसंवादको दक्षः कृतज्ञो मतिमानृजुः ।
अपि संक्षीणकोशोऽपि लभते परिवारणम् २७ ॥
धृतिः शमो दमः शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधःश्रियः२८
असंविभागी दुष्टात्मा कृतघ्नो निरपत्रपः ।
तादृङ् नराधिपो लोके वर्जनीयो नराधिप २९ ॥

प्रकार सुन्दर कहीहुई वाणी यह प्राणियोंको अपना बनालेतेहैं॥२६॥ जो अप्रियवचनके न बोलनेवाला तथा समस्त कार्योंमें चतुर और उपकारके जाननेवाला तथा बुद्धिमान् और कोमलस्वभाव है वह यदि निर्धन भी हो तब भी भृत्यमित्रादिकोंको प्राप्त होताहै अर्थात् ऐसे जनके निर्धन होनेपर भी बहुतसे भृत्य मित्रादि होजातेहैं ॥ २७ ॥ धृतिनाम धैर्य और शम नाम शान्ति और दम नाम इंद्रियोंका वशमें करना और कारुण्य नाम दया और मधुरवाक्य और मित्रोंसे वैर न करना यह लक्ष्मीके बढानेवाले हैं ॥ २८ ॥ हे नरराज ! जो कि असंविभागी अर्थात् भृत्यादिकोंके लिये न देकर स्वयं ही भोगता है और जो कि दुष्टचित्त है और उपकारके दूरकरनेवालाहै और जो कि

न च रात्रौ सुखं शेते ससर्प इव वेश्मनि ।
यः कोपयति निर्दोषं सदोषोऽभ्यंतरं जनम् ४०॥
येषु दुष्टेषु दोषः स्याद्योगक्षेमस्य भारत ।
सदा प्रसादनं तेषां देवतानामिवाचरेत् ॥ ४१ ॥
येऽर्थाः स्त्रीषु समायुक्ताः प्रमत्तपतितेषु च ।
ये चानार्ये समासक्ताः सर्वे ते संशयं गताः॥४२॥
यत्र स्त्री यत्र कितवो बालो यत्रानुशासिता ।
मज्जंति तेऽवशा राजन्नद्यामश्मप्लवा इव ॥४३ ॥

निर्लज्ज है तादृश राजा त्यागनेयोग्य होताहै ॥ ३९ ॥ वह रात्रिमें सुखपूर्वक नहीं सोवताहै जिसप्रकार कि सर्पवाले घरमे नहीं सोवताहै। जो कि आप दोषयुक्त होकर भी निर्दोष मनुष्यके अन्तःकरणको क्रोध कराताहै ॥ ४० ॥ हे भरतवंशीय ! जिन दुष्टोंके विषें अपने योग क्षेमका दोष होवै अर्थात् जो कि दुष्ट अपनी आजीविकादिक दूर करसक्ते हों उनकी प्रसन्नता सदैव देवताओंकी तरह करै ॥ ४१ ॥ जो कि धनादिक अर्थ स्त्रियोंके विषें वा मतवाले या पतितोंके विषें रक्खेहुए हैं और जो कि दुर्जनोंके विषें रक्खेहैं वह समस्त संशयको प्राप्तहुए जानने अर्थात् कदाचित् ही वह धनादिक उनसे अपने को मिलते हैं ॥४२॥ हे राजन् ! जहां कि स्त्री वा

प्रयोजनेषु ये सक्ता न विशेषेषु भारत ।
तानहं पंडितान्मन्ये विशेषा हि प्रसंगिनः ॥४४॥
यं प्रशंसंति कितवा यं प्रशंसंति चारणाः ।
यं प्रशंसंति बंधक्यो न स जीवति मानवः ॥४५॥
हित्वा तान्परमेष्वासान्पांडवानमितौजसः ।
आहितं भारतैश्वर्यं त्वया दुर्योधने महत् ॥ ४६॥

जहां कि जुएबाज था जहां कि बालक शिक्षाकरनेवाला, होताहै वह मनुष्य अवश्य हुए निश्चय ही डूबतेहैं जिस प्रकार कि नदीमें पत्थरकी नाव डूबती है ॥ ४३ ॥ हे भारत ! जो कि जन प्रयोजन-वाले कार्योंमें ही आसक्त रहतेहैं न कि विशेष अर्थात् व्यर्थ कार्योंमें उनको मैं पंडित मानताहौं क्यों कि जो कि कारण के विना ही कार्य करतेहैं वह व्यर्थ हैं ॥ ४४ ॥ जुएबाज जिसकी प्रशंसा करतेहैं और दूतजन जिसकी प्रशंसा करतेहैं और व्यभिचारिणी स्त्रियाँ जिसकी प्रशंसा करती हैं वह मनुष्य नहीं जीवता है ॥ ४५ ॥ बडे बडे श्रेष्ठ धनुषवाले और अतुल पराक्रमी ऐसे पाडवोंको त्यागकर हे भारत !

तं द्रक्ष्यसि परिभ्रष्टं तस्मात्त्वमचिरादिव ।
ऐश्वर्यमदसंमूढं बलिं लोकत्रयादिव ॥ ४७ ॥
इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरहितवाक्येऽष्टात्रिंशोऽध्यायः॥३८॥[६]

धृतराष्ट्र उवाच ।
अनीश्वरोऽयं पुरुषो भवाभवे
सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा ।

तुमने महत् ऐश्वर्य दुर्योधनके विषैं रखदिया है ॥ ४६ ॥ तिसमें तुम थोडे ही कालमें उसको ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हुआ देखोगे जिसप्रकार कि ऐश्वर्य मदसे प्रमत्तहुए बलिको तीनों लोकोंसे भ्रष्ट हुआ सब जगत् देखता हुआ ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंसपण्डितमाधवसुतात्मज--काशिरामविरचित-भाषातिलकेऽष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥ (६)

इतना सुन धृतराष्ट्र महाराज विदुरजीसे कहते हुए, हे विदुरजी ! यह पुरुष ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य दोनोंमें इसप्रकार असमर्थ है जिस प्रकार कि सूतमें पोयी हुई काठकी बनी स्त्री असमर्थ होवे है क्योंकि

धात्रा तु दिष्टस्य वशे कृतोऽयं
तस्माद्वद त्वं श्रवणे धृतोऽहम् ॥ १ ॥
विदुर उवाच ।
अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।
लभते बुद्ध्यवज्ञानमवमानं च भारत ॥ २ ॥
प्रियो भवति दानेन प्रियवादेन चापरः ।
मंत्रमूलबलेनान्यो यः प्रियः प्रिय एव सः ॥ ३॥
द्वेष्यो न साधुर्भवति न मेधावी न पंडितः ।
प्रिये शुभानि कार्याणि द्वेष्ये पापानि चैव ह ४॥

यह विधाताने भाग्यके वशमें पहिलेसे ही करदिया है तिससे आप कहिये मैं कानमें धरता हूँ ॥ १ ॥ तब विदुरजी महाराज कहनेलगे हे भारत ! जिसके कहनेका समय ही विद्यमान नहीं है उस वचनको कहतेहुए साक्षात् बृहस्पतिजी भी बुद्धिकी अवज्ञा और निरादरको प्राप्त होसक्ते हैं ॥ २ ॥ दूसरा जन दान और प्रिय बोलनेसे प्रिय होसक्ताहै । और दूसरा अन्यजन मंत्र और धनादिबलसे प्रिय होसक्ता है पर जो कि प्रिय है वह दान और प्रियवचन आदिके विना ही प्रिय रहताहै ॥ ३ ॥ जो जिसका वैरी होताहै वह यदि साधु और

उक्तं मया जातमात्रेऽपि राज-
न्दुर्योधनं त्यज पुत्रं त्वमेकम् ।
तस्य त्यागात्पुत्रशतस्य वृद्धि-
रस्यात्यागात्पुत्रशतस्य नाशः ॥ ५ ॥

न वृद्धिर्बहु मंतव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत् ।
क्षयोऽपि बहु मंतव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ॥ ६ ॥
न स क्षयो महाराज यः क्षयो वृद्धिमावहेत् ।
क्षयः स त्विह मंतव्यो यं लब्ध्वा बहु नाशयेत् ७ ॥

बुद्धिमान् तथा पंडित भी हो तब भी उसकी दृष्टिसे यह न साधु है न बुद्धिमान् है न पंडित है प्रियके लिये समस्त कार्य शुभ ही दीखते हैं और वैरीके लिये अच्छे भी कार्य अशुभ दीखते हैं ॥ ४ ॥ हे राजन्! जब कि उत्पन्न ही हुआथा तभी मैंने आपसे कहाथा कि तुम इस अकेले दुर्योधनको त्याग देवो उसके त्यागनेसे तुम्हारे सौ पुत्रोंकी वृद्धि होवेगी और उसके न त्यागनेसे तुम्हारे सौ पुत्रोंका नाश होजायगा ॥ ५ ॥ वह वृद्धि बहुत नहीं माननी चाहिये जो वृद्धि नाशको प्राप्त करदेवे है और वह नाश भी नहीं मानना चाहिये जो नाश कि वृद्धिको प्राप्त करदेवे ॥ ६ ॥ हे महाराज ! वह नाश नहीं है जो नाश कि वृद्धिको प्राप्त करै यहाँपर वह नाश मानना चाहिये

समृद्धा गुणतः केचिद्भवंति धनतोऽपरे ।
धनवृद्धान्गुणैर्हीनान्धृतराष्ट्र विवर्जय ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच ।

सर्वं त्वमायतीयुक्तं भाषसे प्राज्ञसंमतम् ।
न चोत्सहे सुतं त्यक्तुं यतो धर्मस्ततो जयः ॥ ९ ॥

विदुर उवाच ।

अतीवगुणसंपन्नो न जातु विनयान्वितः ।
सुसूक्ष्ममपि भूतानामुपमर्दमुपेक्षते ॥ १० ॥

जिसको पाकर बहुतोंको नाश करदेवे ॥ ७ ॥ कोई तो गुणोंसे समृद्ध होतेहैं और कोई अन्यधनोंसे जो कि धनोंसे तौ समृद्ध हैं पर गुणोंसे हीन है उनको हे धृतराष्ट्रजी ! आप त्याग दीजिये ॥ ८ ॥ इतना सुन धृतराष्ट्रजी फिर विदुरजीसे बोले हे विदुरजी ! उत्तरकालमें हितकरनेवाला और पण्डितोंके माननेयोग्य वचन आप कहरहेहैं और यह भी सुनरक्खा है कि जहाँ धर्म होताहै तहाँ जय होवैहै पर तब भी मैं पुत्रके त्यागनेको नहीं उत्साह करता हौं ॥ ९ ॥ तब विदुरजी

परापवादनिरताः परदुःखोदयेषु च ।
परस्परविरोधे च यतंते सततोत्थिताः ॥ ११ ॥
सदोषं दर्शनं येषां संवासे सुमहद्भयम् ।
अर्थादाने महान्दोषः प्रदाने च महद्भयम्॥१२॥
ये वै भेदनशीलास्तु सकामा निस्त्रपाः शठाः ।
ये पापा इति विख्याताः संवासे परिगर्हिताः १३
युक्ताश्चान्यैर्महादोषैर्ये नरास्तान् विवर्जयेत् ।
निवर्तमाने सौहार्दे प्रीतिर्नीचे प्रणश्यति ॥ १४॥

और जो कि पराई निन्दा और पराये दुःखोंके उदय होनेमें निरत हैं और जो कि निरन्तर उद्यम करतेहुए परस्पर विरोध करानेमें ही यत्न करतेहैं ॥ ११ ॥ और जिनका दर्शन भी दोषयुक्त है और जिनके साथ संवाद करनेमें भी महत् भय होताहै और उन्होंके धनादि लेनेमें तथा उनके लिये देनेमें भी महत् भय होताहै ॥ ॥ १२ ॥ और जो कि परस्पर भेद करानेवाले हैं और जो कि कामी और निर्लज्ज तथा मूर्ख हैं और जो कि विख्यातपापी हैं और जो कि साथ वास करनेमें निन्दित हैं और जो कि नर अन्य महादोषोंसे युक्त हैं उनको पंडित जन त्याग देवै ॥ १३ ॥ मित्रभाव निवृत्त होनेपर नीचजनके विषैं प्रीति नष्ट होजाती है और

मया चापि हितं वाच्यं विद्धि मां त्वद्धितैषिणम्
ज्ञातिभिर्विग्रहस्तात न कर्तव्यः शुभार्थिना ।
सुखानि सहभोज्यानि ज्ञातिभिर्भरतर्षभ ॥२३॥
संभोजनं संकथनं संप्रीतिश्च परस्परम् ।
ज्ञातिभिः सह कार्याणि न विरोधः कदाचन २४
ज्ञातयस्तारयंतीह ज्ञातयो मज्जयंति च ।
सुवृत्तास्तारयंतीह दुर्वृत्ता मज्जयंति च ॥ २५ ॥
सुवृत्तो भव राजेंद्र पांडवान्प्रति मानद ।
अधर्षणीयः शत्रूणां तैर्वृतस्त्वं भविष्यसि ॥२६॥

है ॥ २२ ॥ मेरे कहेहुए वचनको हितकारक जानिये और मुझको अपना हितैषी समझिये ! हे तात ! जातिवालोंके साथ विरोध कल्याणचाहनेवालेको नहीं करना चाहिये । किन्तु हे भरतर्षभ ! जातिवालोंके साथ सुखभोगनेचाहिये ॥ २३ ॥ परस्पर भोजन और परस्पर कथन और परस्पर प्रीति यह जातिवालोंके साथ करने चाहिये ! और विरोध कदाचित् भी न करना चाहिये ॥ २४ ॥ इस संसारमें जातिवाले ही तारदेतेहैं और जातिवाले ही डुबादेतेहैं ! उनमें जो सुन्दर आचारवाले होतेहैं वह तारदेतेहैं और दुराचारी डुबादेतेहैं ॥ २५ ॥ इससे हे राजेन्द्र! पाण्डवोंके प्रति श्रेष्ठआचारवाले

श्रीमंतं ज्ञातिमासाद्य यो ज्ञातिरवसीदति ।
दिग्धहस्तं मृग इव स एनस्तस्य विंदति ॥२७॥
पश्चादपि नरश्रेष्ठ तव तापो भविष्यति ।
तान्वा हतान्सुतान्वापि श्रुत्वा तदनुचिंतय॥२८॥
येन खट्वां समारूढः परितप्येत कर्मणा ।
आदावेव न तत्कुर्यादध्रुवे जीविते सति ॥ २९ ॥
न कश्चिन्नापनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् ।

हूजिये । हे मानद! उन पाण्डवोंसे युक्तहुए तुम वैरियों करके तिरस्कार करनेयोग्य नहीं होवोगे अर्थात् पाण्डवोंके साथ रहनेमें तुम्हारे वैरी तिरस्कार नहीं करसकेंगे ॥ २६ ॥ सम्पत्तिवाले ज्ञातिको प्राप्त होकर जो ज्ञाति कष्ट पाता है वह सम्पत्तिवाला ज्ञाति उसके पापको प्राप्त होताहै जिसप्रकार कि जिसके हाथमें विषका सनाहुआ बाण है उसको मृग प्राप्त होजाताहै । भाव यह है कि जैसे कि व्याध मृगको मारदेताहै तैसे ही कष्टपानेवाले ज्ञातिके पापसे सम्पत्तिवाला ज्ञाति पीडित होताहै ॥ २७ ॥ हे नरश्रेष्ठ! उन पाण्डवोंके हाथ अपने पुत्रोंको मरा सुन उनकी चिन्ता कर तुमको पिछारी सन्ताप होवैगा ॥ २८ ॥ जिस कर्मकर कि खट्वापर चढ चिन्ताके स्थानमें बैठाहुआ संतप्त होताहै उस कर्मको पहिले ही नाशवान् जीवितके निमित्त न करै॥२९॥नीतिशास्त्रके करनेवाले शुक्राचार्य्यके विना कोई

शेषसंप्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्वेव तिष्ठति ॥ ३० ॥
दुर्योधनेन यद्येतत्पापं तेषु पुरा कृतम् ।
त्वया तत्कुलवृद्धेन प्रत्यानेयं नरेश्वर ॥ ३१ ॥
तांस्त्वं पदे प्रतिष्ठाप्य लोके विगतकल्मषः ।
भविष्यसि नरश्रेष्ठ पूजनीयो मनीषिणाम् ॥३२॥
सुव्याहृतानि धीराणां फलतः परिचिन्त्य यः ।
अध्यवस्यति कार्येषु चिरं यशसि तिष्ठति३३ ॥
असम्यगुपयुक्तं हि ज्ञानं सुकुशलैरपि ।

नहीं अनीति करताहै यह बात नहीं किन्तु सब ही अनीति करतेहैं पर शेष रहेकी सिद्धि बुद्धिमानोंके विषे स्थित रहतीहै । इस कथनसे विदुरजीने यह जनाया कि जो आपकी कीहुई अनीति बीतगई तो बीतगई पर इससे आगे अनीतिके न करनेमें आपको यत्न करना चाहिये ॥३०॥ हे नरेश्वर ! जो कि यह पाप दुर्योधनने उन पाण्डवोंके विषे पहिले किया है वह पाप तुम कुलवृद्धकर मिटाना चाहिये ॥ ३१ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! उन पाण्डवोंको राज्यपदपर बैठाकर निष्पापहुए बुद्धिमानोंके पूजनेयोग्य होवोगे ॥ ३२ ॥ जो कि धीरजनोंके सुन्दर कहेहुए वचनोंको अर्थसे विचार करके कार्योंके विषै उत्साह करताहै वह बहुतकाल पर्यन्त कीर्तिमें स्थित रहताहै ॥ ३३ ॥ पण्डितोंकर उपदेश कियाहुआ ज्ञान व्यर्थ ही

उपलभ्यं चाविदितं विदितं चाननुष्ठितम् ३४ ॥
पापोदयफलं विद्वान् यो नारभति वर्धते ॥३५॥
यस्तु पूर्वकृतं पापमविमृश्यानुवर्तते ॥ ३६ ॥
अगाधपंके दुर्मेधा विषमे विनिपात्यते ॥
मंत्रभेदस्य पट् प्राज्ञो द्वाराणीमानि लक्षयेत् ३७
अर्थसंततिकामश्च रक्षेदेतानि नित्यशः ।
मदं स्वप्नमविज्ञानमाकारं चात्मसंभवम् ॥३८॥

होजाताहै जब कि जाननेयोग्य होकर भी नहीं जानागया है। और जानाहुआ भी व्यर्थ होजाताहै जब कि नहीं सेवन कियाहै ॥ ३४ ॥ जिसका कि फल पापके उदयकरने वाला है उस कर्मको जो विद्वान् है वह नहीं आरम्भ करताहै ॥३५॥वह वृद्धिको प्राप्त होताहै। जो कि पूर्व कियेहुए पापको नहीं विचारकर पापको ही निरन्तर करतारहता है ॥ ३६ ॥ वह कुबुद्धि गहरी कीचवाले विषमनरकमें गिराया जाता है मंत्रके भेद होनेके छै द्वार हैं इनको बुद्धिमान जन जानताहै ॥ ३७ ॥ इन मंत्रके भेद होनेके छै द्वारोंको सदैव ही अर्थ वृद्धिकी इच्छावाला रक्षा करै एक मदिरापान, दूसरी अतिनिद्रा, तीसरा दूसरेके गुप्त दूतके रूपकी वार्त्ताका न जानना, चौथी अपनी नेत्रमुखविकारादि चेष्टा, पांचवां दुष्ट मन्त्रियोंके विषे विश्वास, छटा जो दूत कि चतुर न होवै

दुष्टामात्येषु विश्रंभं दूताच्चाकुशलादपि ।
द्वाराण्येतानि यो ज्ञात्वा संवृणोति सदा नृप ३९
त्रिवर्गाचरणे युक्तः स शत्रूनधितिष्ठति ।
न वै श्रुतमविज्ञाय वृद्धाननुपसेव्य वा ॥
धर्मार्थौ वेदितुं शक्यौ बृहस्पतिसमैरपि ॥ ४० ॥
नष्टं समुद्रे पतितं नष्टं वाक्यमशृण्वति ॥ ४१ ॥
अनात्मनि श्रुतं नष्टं नष्टं हुतमनग्निकम् ॥ ४२ ॥
मत्या परीक्ष्य मेधावी बुद्ध्या संपाद्य चासकृत ।
श्रुत्वा दृष्ट्वाथ विज्ञाय प्राज्ञैर्मैत्रीं समाचरेत् ॥ ४३ ॥

उससे विश्वास होना ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ हे नृप ! इन छै द्वारोंको जानकर जो सदैव मूंदतारहताहै वह धर्मार्थकामके सेवन करनेमें युक्तहुआ जन शत्रुओंके ऊपर स्थित होताहै । शास्त्रको न जानकर और वृद्धोंको न सेवनकर बृहस्पतिके समान भी जनोंके धर्म और अर्थ यह दोनों जाननेको नहीं समर्थ होतेहैं ॥ ४० ॥ समुद्रमें गिराहुआ नष्ट होताहै और नहीं सुननेवालेके विषैं वाक्य नष्ट होताहै और निर्बुद्धिके विषैं शास्त्र नष्ट होताहै और निरग्नि हवन कियाहुआ नष्ट होताहै॥ ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ प्रथम बुद्धिसे परीक्षा कर फिर बुद्धिसे वारंवार उसके तत्त्वकोविचारकर और दूसरोंसे सुनकर और दृष्टि देखकर

अकीर्तिं विनयो हंति हंत्यनर्थं पराक्रमः ।
हंति नित्यं क्षमा क्रोधमाचारो हंत्यलक्षणम् ॥४४॥
परिच्छदेन क्षेत्रेण वेश्मना परिचर्यया ।
परीक्षेत कुलं राजन्भोजनाच्छादनेन च ॥४५॥
उपस्थितस्य कामस्य प्रतिवादो न विद्यते ।
अपि निर्मुक्तदेहस्य कामरक्तस्य किं पुनः ॥४६॥
प्राज्ञोपसेविनं वैद्यं धार्मिकं प्रियदर्शनम् ।
मित्रवंतं सुवाक्यं च सुहृदं परिपालयेत् ॥ ४७ ॥

और स्वयं जानकर पण्डितजनोंके साथ मित्रता करे ॥ ४३ ॥ विनय अकीर्तिका नाश करदेवैहै और पराक्रम अनर्थका नाश करदेताहै और क्षमा सदैव क्रोधका नाश करदेतीहै । और आचार कुलक्षणका नाश करदेताहै ॥ ४४ ॥ भोगनेयोग्य वस्तु सामग्री और क्षेत्र और गृह और सेवा और भोजन और वस्त्र इनसे कुलकी परीक्षा करै ॥ ४५ ॥ जब कि निर्मुक्त देह अर्थात् त्यागेहुए देहाभिमान विरक्तको ही स्वयं प्राप्तहुए अभीष्ट पदार्थका त्याग करदेना नहीहै तो फिर क्या कहनाहै कि जो कामरक्त अर्थात् इच्छा करनेवालेको स्वयं प्राप्तहुए अभीष्ट पदार्थका त्याग करना न होवै तो ॥ ४६ ॥ विद्वानोंकी सेवा करनेवाला और वैद्य अर्थात् विद्यावाला और धर्मात्मा और प्रियदर्शन-वाला और सुन्दर मित्रवाला और अच्छे बोलनेवाला ऐसे मित्रकी

दुष्कुलीनः कुलीनो वा मर्यादां यो न लंघयेत् ।
धर्मापेक्षी मृदुर्ह्रीमान्स कुलीनशताद्वरः ॥
ययोश्चित्तेन वा चित्तं निभृतं निभृतेन वा ।
समेति प्रज्ञया प्रज्ञा तयोर्मैत्री न जीर्यति ॥४८॥
दुर्बुद्धिमकृतप्रज्ञं छन्नं कूपं तृणैरिव ।
विवर्जयीत मेधावी तस्मिन्मैत्री प्रणश्यति॥४९॥
अवलिप्तेषु मूर्खेषु रौद्रसाहसिकेषु च ।
तथैवापेतधर्मेषु न मैत्रीमाचरेद्बुधः ॥ ५० ॥

सदैव रक्षा करे ॥ ४७ ॥ दुष्कुलीन हो वा कुलीन हो जो कि मर्यादाको उल्लंघन न करै और धर्मको चाहनेवाला तथा कोमलस्वभाव और लज्जावान् हो वह सौ कुलीनोंसे भी श्रेष्ठ होताहै जिन दोनोंके मध्य चित्तसे चित्त और गुप्तमंत्रादिसे गुप्तमंत्रादिक और बुद्धिसे बुद्धि समान मिलती हो उन दोनोंकी मित्रता कदापि नहीं दूर होतीहै॥४८॥ जो कि दुर्बुद्धि है और कियेहुए उपकारको नहीं जानताहै और छल छिद्रादिकसे इसप्रकार ढका रहताहै जिस प्रकार कि तृणोंसे कूप, ऐसे जनको बुद्धिमान जन त्यागदेवे क्यों कि उसके विषै की हुई मित्रता नष्ट होजातीहै ॥ ४९ ॥ जो कि अति गर्विष्ठ और मूर्ख तथा क्रोधी और नहीं विचारकर कार्यकरनेवालेहैं और जिन्होंने धर्म त्यागदिया है उनके विषै पण्डित जन मित्रता न करै ॥५०॥

कृतज्ञं धार्मिकं सत्यमक्षुद्रं दृढभक्तिकम् ।
जितेंद्रियं स्थितं स्थित्यां मित्रमत्यागि चेष्यते ५१
इंद्रियाणामनुत्सर्गो मृत्युनापि विशिष्यते ।
अत्यर्थं पुनरुत्सर्गः सादयेद्दैवतानपि ॥ ५२ ॥
मार्दवं सर्वभूतानामनसूया क्षमा धृतिः ।
आयुष्याणि बुधाः प्राहुर्मित्राणां चाविमानना ५३
अपनीतं सुनीतेन योऽर्थं प्रत्यानिनीषते ।
मतिमास्थाय सुदृढां तदकापुरुषव्रतम् ॥ ५४ ॥

जो कि किये उपकारके जाननेवाला है और धर्मात्मा है और सत्य-बोलनेवाला और क्षुद्रताहीन और दृढ भक्तिवाला है और जिसने इंद्रिय जीतरक्खे हैं और जोकि मर्यादामें स्थित है और त्याग करनेवाला भी नहीं है ऐसा मित्र सबकर इच्छा कियाजाताहै ॥ ५१ ॥ इंद्रियोंका विषयोंसे निवृत्त करना मृत्युसे भी विशेष है अर्थात् इन्द्रियोंका विषयोंसे रोकना मृत्युके कष्टसे भी अधिक कष्टकारक है । पर जो कि अत्यन्त इन्द्रियोंको विषयोंमें प्रवृत्त करना है वह देवताओंका भी नाश करदेताहै ॥ ५२ ॥ कोमलस्वभाव होना और समस्त प्राणियोंकी निन्दा न करना और सहनशील होना और धैर्य और मित्रोंका अपमान न करना यह समस्त आयुके बढानेवाले हैं ऐसा पंडित जन कहतेहैं ॥ ५३ ॥ जो कि अन्यायकर नाशहुए धनको अच्छी दृढ-

आयत्यां प्रतिकारज्ञस्तदात्वे दृढनिश्चयः ।
अतीते कार्यशेपज्ञो नरोऽर्थैर्न प्रहीयते ॥ ५५ ॥
कर्मणा मनसा वाचा यदभीक्ष्णं निषेवते ।
तदेवापहरत्येनं तस्मात्कल्याणमाचरेत् ॥ ५६ ॥
मंगलालंभनं योगः श्रुतमुत्थानमार्जवम् ।
भूतिमेतानि कुर्वंति सतां चाभीक्ष्णदर्शनम् ५७॥
अनिर्वेदः श्रियो मूलं लाभस्य च शुभस्य च ।
महान्भवत्यनिर्विण्णः सुखं चानंतमश्नुते ॥५८॥

बुद्धिको आश्रय कर न्यायसे फिर लेनेकी इच्छा करताहै सो यह सत्पुरुषोंका मत है ॥ ५४ ॥ जो आनेवाले कालके विषें करनेयोग्य कार्यके उपायको जानताहै और वर्तमानकालके विषें आरम्भकिये कार्यमें जिसका निश्चय दृढ रहताहै और व्यतीतकालमें शेप रहे कार्यके जाननेवाला है वह नर धनादिकोंसे कदापि नहीं हीन होताहै ॥५५॥ कर्म और मन और वाणीसे जिसकर्मका सदा ही सेवन करताहै वह कर्म उसको अपनी तरफ हरण करलेताहै तिससे मनुष्य शुभकर्मका ही सेवन करै॥५६॥मंगल पदार्थोंका स्पर्श करना और योग नाम चित्तका एकाग्र करना और शास्त्राभ्यास और उद्यम और कोमल स्वभाव रखना और सज्जनोंका सदैव दर्शन करना यह ऐश्वर्य करतेहैं॥५७॥ अनिर्वेद अर्थात् उद्यम लक्ष्मीका और लाभका और शुभका मूल है उद्यम

नातः श्रीमत्तरं किंचिदन्यत्पथ्यतमं मतम् ।
प्रभविष्णोर्यथा तात क्षमा सर्वत्र सर्वदा ॥५९॥
क्षमेदशक्तः सर्वस्य शक्तिमान्धर्मकारणात् ।
अर्थानर्थौ समौ यस्य तस्य नित्यं क्षमा हिता॥६०॥
यत्सुखं सेवमानोऽपि धर्मार्थाभ्यां न हीयते ।
कामं तदुपसेवेत न मूढव्रतमाचरेत् ॥ ६१ ॥
दुःखार्तेषु प्रमत्तेषु नास्तिकेष्वलसेषु च ।
न श्रीर्वसत्यदांतेषु ये चोत्साहविवर्जिताः ६२ ॥

करनेवाला ही धनादिकोंसे महान् होजाताहै और अनन्त सुख भोगता है ॥ ५८ ॥ हे तात ! समर्थ होनेवालेकी जैसी कि क्षमा सबकालमें और सब जगह हितकारक होवैहै इससे अन्य कुछ भी अत्यन्त सुन्दर और अतीव हितकारक उपाय कविजनोंने नहीं मानाहै ॥ ५९ ॥ असमर्थ तो सबके ही ऊपर क्षमा करै और सामर्थ्यवान् धर्मके कारण क्षमा करै । और जिसके अर्थ और अनर्थ दोनों समान ही हैं उसको भी क्षमा ही सदा हितकारक जाननी ॥ ६० ॥ जिस सुखके सेवन करनेवाला जन धर्म और अर्थ इन दोनोंसे नहीं भ्रष्ट होताहै उस अभीष्ट सुखका सेवन करलेवे और मूढव्रतको न सेवन करै अर्थात् सर्वथा भोजनादिका त्याग न करै ॥ ६१ ॥ जो कि दुःखार्त हैं और जो कि मतवाले रहतेहैं और जो कि नास्तिक और आलसी हैं

तपो बलं तापसानां ब्रह्म ब्रह्मविदां बलम् ।
हिंसा बलमसाधूनां क्षमा गुणवतां बलम् ७० ॥
अष्टौ तान्यव्रतघ्नानि आपो मूलं फलं पयः ॥
हविर्ब्राह्मणकाम्या च गुरोर्वचनमौषधम् ॥ ७१ ॥
न तत्परस्य संदध्यात्प्रतिकूलं यदात्मनः ।
संग्रहेणैष धर्मः स्यात्कामादन्यः प्रवर्तते ॥ ७२ ॥
अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत् ।
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम् ॥ ७३ ॥

पूर्व देखे सुने कहेका अनुसन्धान और विचारकर कार्यका आरम्भ करना इनको हे राजन् ! तुम ऐश्वर्यका मूल जानिये ॥ ६९ ॥ तपस्वियोंका बल तप है और वेदवेत्ताओंका बल वेद है और असाधुओंका बल हिंसा है और गुणवानोंका बल क्षमा है ॥ ७० ॥ जो कि आठ वस्तु व्रतके नाश करनेवाले नहीं होतेहैं वह यह हैं एक तो जल दूसरा मूल तीसरा फल चौथा दूध पांचवां घृत छठी ब्राह्मणकी इच्छा सातवाँ गुरुका वचन आठवाँ औषध ॥ ७१ ॥ जो कि कर्म अपने आत्माको प्रतिकूल हो उस कर्मके करनेको दूसरेको भी न सलाह देवे यह धर्म सङ्ग्रहकर होताहै और अन्य धर्म इच्छासे प्रवृत्त होताहै अर्थात् यह धर्म निष्काम है और अन्य धर्म सकामहै ॥७२॥ अक्रोधसे क्रोधको जीते और सत्कर्मसे असत्कर्मको जीते और दानसे

स्त्रीधूर्तकेऽलसे भीरौ चंडे पुरुषमानिनि ।
चौरे कृतघ्ने विश्वासो न कार्यो न च नास्तिके ७४
अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि संप्रवर्धंते कीर्तिरायुर्यशो बलम् ॥७५ ॥
अतिक्लेशेन येऽर्थाः स्युर्धर्मस्यातिक्रमेण वा ।
अरेर्वा प्रणिपातेन मा स्म तेषु मनः कृथाः॥७६
अविद्यः पुरुषः शोच्यः शोच्यं मैथुनमप्रजम् ।
निराहाराः प्रजाःशोच्याःशोच्यं राष्ट्रमराजकम् ७७

कृपणताको जीतै और सत्यसे झूंठको जीतै ॥ ७३ ॥ स्त्री और धूर्तक (जुएबाज) और आलसी और डरपनेवाला और चण्ड नाम अतीव क्रोधी और अपनेको पुरुष माननेवाला और चौर और उपकारके न माननेवाला और नास्तिक इनके विषे विश्वास नहीं करना चाहिये ॥७४॥ उत्तमजनोंको प्रणाम करनेका है स्वभाव जिसका ऐसे सर्वदैव वृद्ध जनोंकी सेवा करनेवाले जनके चार पदार्थ बढतेहैं एक तौ कीर्त्ति दूसरा आयु तीसरा धन चतुर्थ बल ॥ ७५ ॥ जो कि अर्थ अत्यन्तक्लेश और धर्मके उल्लंघनसे और शत्रुके आगे नम्र होनेसे होतेहैं उन अर्थोंके विषे हे राजन् ! अपना मन मतकरिये ॥ ७६ ॥ जो पुरुष कि विद्याहीन है वह शोचकरनेयोग्यहै । और जो कि मैथुन सन्तानवर्जित है वह शोचकरनेयोग्यहै और जो कि प्रजा भोजनसे

अध्वा जरा देहवतां पर्वतानां जलं जरा ।
असंभोगो जरा स्त्रीणां वाक्शल्यं मनसो जरा ७८
अनाम्नायमला वेदा ब्राह्मणस्याव्रतं मलम् ७९ ॥
मलं पृथिव्या बाह्लीकाः पुरुषस्यानृतं मलम् ।
कौतूहलमला साध्वी विप्रवासमलाः स्त्रियः ८०
सुवर्णस्य मलं रूप्यं रूप्यस्यापि मलं त्रपु ।
ज्ञेयं त्रपुमलं सीसं सीसस्यापि मलं मलम् ८१ ॥
न स्वप्नेन जयेन्निद्रां न कामेन जयेत्स्त्रियः ।
नैधनेन जयेदग्निं न पानेन सुरां जयेत् ॥ ८२ ॥

वांजतहुई रहतीहै अर्थात् भूखी रहतीहै वह शोचने योग्य है । और जो कि राज्य राजाहीन है वह शोचनेयोग्य है ॥ ७७ ॥ देहधारियोंका बुढापा मार्ग है और पर्वतोंका बुढापा जल है और स्त्रियोंका बुढापा असंभोग है और मनका बुढापा वाक्शल्य अर्थात् दुर्वचन है॥७८ ॥ वेदोंका मल अनभ्यास है और ब्राह्मणका मल अनाचार है ॥ ७९ ॥ और पृथिवीका मल बाह्लीकदेश है और पुरुषका मल झूंठ है और पतिव्रतास्त्रियोंका मल कौतूहल अर्थात् कटाक्षहास्यादि क्रीडा है और सर्व स्त्रियोंका मल परगृहादिकमें वासकरना है ॥ ८० ॥ सुवर्णका मल चांदी और चांदीका मल रांग जाननेयोग्य है और रांगका मल सीसा और सीसाका भी मल मैल है ॥ ८१ ॥ निद्राके

यस्य दानजितं मित्रं शत्रवो युधि निर्जिताः ।
अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ८३
सहस्रिणोऽपि जीवंति जीवंति शतिनस्तथा ।
धृतराष्ट्र विमुंचेच्छां न कथंचिन्न जीव्यते ॥ ८४॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः ।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति पश्यन्न मुह्यति ॥ ८५ ॥
राजन्भूयो ब्रवीमि त्वां पुत्रेषु सममाचर ।

जन निद्राको नहीं जीतसक्ताहै और कामसे स्त्रियोंको नहीं जीतसक्ता है और ईंधनसे अग्निको नहीं जीतसक्ताहै और मदिरापानसे मदिराको नहीं जीतसक्ता है ॥८२॥ जिसके दानसे जीतेहुए मित्र हैं और युद्धमें जीतेहुए शत्रु हैं और अन्नपानसे जीतीहुई स्त्रियां हैं उसका जीवन सफल है ॥८३॥ हे धृतराष्ट्र जबतक कि मृत्यु नहीं है तबतक हजा-रवाले भी जीतेहैं और सौवाले भी जीते हैं इससे इच्छाको त्यागदी-जिये यदि इच्छाको न त्यागोगे तो भी किसिप्रकार तुम्हारा नहीं जीवन होसक्ता है ॥ ८४ ॥ जो कि पृथिवीपर धान यव सुवर्ण पशु स्त्रियां हैं वह सर्व इच्छा करनेवाले एकके ही भोगनेको परिपूर्ण नहीं होसक्तीं ऐसा देखताहुआ विद्वान् नहीं मोहित होताहै ॥८५॥ हे राजन् ! तुमसे फिर [redacted] कहतेहैं कि पुत्रोंके विषें समान

समता यदि ते राजन् स्वेषु पांडुसुतेषु वा॥८६॥
इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि
विदुरवाक्ये एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः॥३९॥[७]

विदुर उवाच ।

योऽभ्यर्चितः सद्भिरसज्जमानः,
करोत्यर्थं शक्तिमहापयित्वा ।
क्षिप्रं यशस्तं समुपैति संत-
मलं प्रसन्ना हि सुखाय संतः ॥ १ ॥

धर्मसे जिससे कि हे राजन् तुम्हारे निजपुत्रोंमें और पांडवोंमें समता होजावे ॥ ८६ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरनीतिवाक्ये श्रीपाठकवंशावतंस-पण्डितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचि-तमापातिलके एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥[७]

इसके अनन्तर फिर विदुरजी महाराज कहनेलगे हे राजन् ! जो कि सज्जनोंकर सत्कार कियाहुआ अभिमान रहित जन शक्तिके अनुसार अर्थ करताहै उस सज्जनके प्रति कीर्ति शीघ्र ही आकर प्राप्त होजाती है । यदि ऐसे सज्जन जिसपर प्रसन्न होतेहैं उसके लिये सुख

महांतमप्यर्थमधर्मयुक्तं,
यः संत्यजत्यनपाकृष्ट एव।
सुखं सुदुःखान्यवमुच्य शेते,
जीर्णां त्वचं सर्प इवावमुच्य ॥ २ ॥
अनृते च समुत्कर्षो राजगामि च पैशुनम्।
गुरोश्चालीकनिर्बंधः समानि ब्रह्महत्यया ॥ ३ ॥
असूयैकपदं मृत्युरतिवादः श्रियो वधः।
अशुश्रूषा त्वरा श्लाघा विद्यायाः शत्रवस्त्रयः॥४॥
आलस्यं मदमोहौ च चापलं गोष्ठिरेव च।
स्तब्धता चाभिमानित्वं तथात्यागित्वमेव च।

देनेको समर्थ होतेहैं ॥ १ ॥ जो अर्थ कि बडाभारी भी है परधर्मसे युक्त नहीं है ऐसे अर्थको जो सज्जन दूसरोंकर नहीं पराजितहुआ भी त्यागदेताहै वह अति दुःखोंको छोडकर सुखपूर्वक सोवताहै जिस प्रकार कि पुरानी त्वचाको त्यागकर सर्प सुखपूर्वक सोवताहै ॥ २ ॥ झूंठमें अतीव उत्कर्ष अर्थात् अधिकता और राजातक जानेवाली चुगली और गुरुजनोंसे झूंठका हठ यह ब्रह्महत्याके समान हैं ॥ ३ ॥ मृत्युका एक पद निन्दा है और अतिवाद-नाम कठोर वचन लक्ष्मीका नाशक है और असेवा और सभ्रम तथा अनभ्यास यह तीन विद्याके शत्रु हैं ॥ ४ ॥ आलस्य और मद मोह और चपलता और गोष्ठि और

इदं च त्वां सर्वपरं ब्रवीमि,
पुण्यं पदं तात महाविशिष्टम् ।
न जातु कामान्न भयान्न लोभा-
द्धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ॥ १२॥
नित्यो धर्मः सुखदुःखे त्वनित्ये,
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ।
त्यक्त्वाऽनित्यं प्रतितिष्ठस्व नित्ये,
संतुष्य त्वं तोषपरो हि लाभः ॥ १३ ॥
महाबलान्पश्य महानुभावान्,
प्रशास्य भूमिं धनधान्यपूर्णाम् ।

हुए ॥ ११ ॥ हे तात ! सबमें उत्तम और अतीव श्रेष्ठ तथा पुण्य प्राप्त करनेवाला यह वचन मैं तुमसे कहताहौं न तो कामसे और न भयसे और न लोभसे और न जीवितके कारण कदाचित् भी नहीं धर्मका त्याग करै ॥ १२ ॥ धर्म नित्य है और सुखदुःख दोनों अनित्य हैं और भोगनेवाला जीव नित्य है और इस जीवका हेतु शरीरादि अनित्य है इससे अनित्यको त्यागि नित्यके ऊपर स्थित हूजिये और आप सन्तोष करिये क्यों कि सन्तोष परमलाभ है ॥ ॥ १३ ॥ हे राजन् ! बड़े २ प्रभाववाले महाबली राजाओंको देखिये

राज्यानि हित्वा विपुलांश्च भोगान्,
गतान्नरेन्द्रान् वशमंतकस्य ॥ १४ ॥
मृतं पुत्रं दुःखपुष्टं मनुष्या,
उत्क्षिप्य राजन् स्वगृहान्निर्हरंति ।
तं मुक्तकेशाः करुणं रुदंति,
चितामध्ये काष्ठमिव क्षिपंति ॥ १५ ॥
अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुंक्ते,
वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून् ।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र,
पुण्येन पापेन च वेष्टयमानः ॥ १६ ॥

कि जो धनधान्यसे परिपूर्ण हुई पृथिवीका पालन करके राज्य और विपुल भोगोंको त्यागि कालके वश चलेगये ॥ १४ ॥ हे राजन् ! जो कि बडे दुःखोंसे पुष्ट कियाहै ऐसे मृतकपुत्रको उठाकर मनुष्य अपने घरोंसे निकालकर लेजातेहैं और उसको भी छै मुक्तकेश अर्थात् बालोंके छूट छोडेहुए करुणापूर्वक रोवते हैं । और चितामध्यमें काष्ठकी समान उसको जलनेके लिये डालदेते है॥१५॥उस प्रेतभावको प्राप्तहुए मृतकके धनको और ही भोगताहै और उसके शरीरधातुओंको पक्षी वा अग्नि भक्षण करलेताहै केवल यह मृतक पुण्य और

नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि संतर ॥२२॥

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबंधुं,
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य,
यः संपृच्छेन्न स मुह्येत्कदाचित् ॥ २३ ॥

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा२४॥

कामक्रोधरूप बडे २ ग्राहोंवाली नदीके प्रति धैर्यरूप नाव बनाकर जन्म मरण, जरा, व्याधि, शोक, दुःखादिरूप दुर्गम स्थानोंको तरजाइये ॥ २२ ॥ जो कि अपने जातिवाला बुद्धिमें बढाहै अथवा धर्म करनेमें बढाहै अथवा विद्यामें बढाहै वा अवस्था करके बढाहै उससे सत्कार और प्रसन्न कर कार्य और अकार्य दोनोंमें जो कि सलाह पूछताहै वह कदाचित् भी नहीं भ्रष्ट होताहै ॥ २३ ॥ धैर्यसे शिश्न और उदरको जीते और नेत्रसे हाथ और पाँवको जीते मनसे नेत्र और कानको जीते और कर्मसे मन और वाणीको जीते भाव यह है कि काम और भूख इन दोनोंको धैर्यसे जीतकर दोषसे रक्षा करै और भलीप्रकार देखि वस्तुके ग्रहणकरनेकर हाथकी रक्षा करै और दृष्टिसे पवित्र किये स्थलपर पदके रखनेकर पांवकी रक्षा करै और परस्त्री आदिकोंसे निवृत्तिकरनेकर नेत्रकी रक्षा करै

नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती,
नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी ।
सत्यं ब्रुवन्गुरवे कर्म कुर्व-
न्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥ २५ ॥
अधीत्य वेदान्परिसंतीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च ।
गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतांतरात्मा,
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति ॥ २६ ॥

और निन्दितशब्दोंसे निवृत्तिकरनेकर कानकी रक्षा करै और कर्मसे मन और वाणी इन दोनोंकी रक्षा करै ॥ २४ ॥ नित्योदकी अर्थात् सदैव यथाकाल स्नानादि करनेवाला और सदैव यज्ञोपवीत धारण करनेवाला और सदैव वेदके अभ्यास करनेवाला और पतितजनोंके अन्नके त्यागनेवाला और गुरुके लिये सत्य कहनेवाला और श्रौत स्मार्त कर्म करनेवाला ऐसा ब्राह्मण ब्रह्मलोकसे नहीं भ्रष्ट होताहै ॥ ॥ २५ ॥ वेदोंको पढकर और अग्नियोंका विस्तार कर और यज्ञोंसे देवताओंका यजन कर और प्रजाओंका पालन कर जो कि गौ और ब्राह्मणके अर्थ शस्त्रसे पवित्रहुए अन्तःकरणवाला क्षत्रिय संग्राममें वध्य

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियांश्च,
धनैः काले संविभज्याश्रितांश्च ।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं,
प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुंक्ते ॥ २७ ॥
ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः,
क्रमेणैतान्न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुंक्ते ॥२८॥
चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो,
हेतुं चानुब्रुवतो मे निबोध ।

होताहै यह स्वर्गको प्राप्त होताहै ॥ २६ ॥ वेदोंको पढकर और समय २ पर ब्राह्मण और क्षत्रिय और आश्रित जनोंको धन बांटकर और यज्ञके तीनों अग्नियोंसे पवित्रहुए पुण्यदायक धूमको सूंघकर वैश्य मरकर स्वर्गमें दिव्यसुखोंको भोगताहै ॥ २७ ॥ ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्ण इनकी क्रमानुसार न्यायसे पूजा करनेवाला शूद्र इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्योंके संतुष्ट होनेपर निष्पाप और व्यथाहीन होकर शरीर त्यागि स्वर्गसुखोंको भोगताहै ॥ २८॥ हे राजन्!

क्षात्राद्धर्माद्धीयते पांडुपुत्र-
स्तं त्वं राजन् राजधर्मे नियुंक्ष्व ॥ २९ ॥
धृतराष्ट्र उवाच ।
एवमेतद्यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य भवत्येवं यथात्थ माम् ३०
सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पांडवान्प्रति मे सदा ।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥
न दिष्टमभ्यतिक्रांतुं शक्यं भूतेन केनचित् ।

चारोंवर्णोंका यह धर्म मैंने तुमसे कहाहै इस चारों वर्णोंके धर्मके कहनेका कारण भी मुझसे श्रवण करिये । हे राजन् ! पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर महाराज प्रजापालनादिरूप क्षत्रियोंके धर्मसे हीन हैं इस कारण आप उनको क्षत्रियोंके धर्ममें नियुक्त करिये ॥ २९ ॥ तब धृतराष्ट्रजी इतना वचन सुन फिर विदुरजीसे कहनेलगे । हे विदुरजी ! यह ऐसाही होना चाहिये जैसा कि सदैव तुम मुझको शिखाते रहते हो और हे सौम्य ! मेरी बुद्धि भी ऐसी ही होजातीहै जैसा कि तुम मुझसे कहते हो ॥ ३० ॥ और वह ही बुद्धि इसप्रकार मुझकर सदैव पांडवोंके प्रति की भी जातीहै पर दुर्योधनको प्राप्त होकर फिर लौटजातीहै ॥ ३१ ॥ सो हे विदुरजी ! प्रारब्ध उल्लंघन करनेको किसी

दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः॥४०॥ [८]

॥ समाप्तमिदं प्रजागरपर्व ॥

प्राणीकर समर्थ नहीं होसक्ताहै इससे प्रारब्धको ही अचल मानताहूँ और पौरुष निरर्थक है ॥ ३२ ॥

गुरुभक्त्यनुभावेन भाषा विदुरनीतिके
समपूर्यत तां दृष्ट्वा सन्तो मे सन्तु शंकराः ॥ १ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये श्रीढाढौलीग्रामस्थ-पाठकवंशावतंस-पंडितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचितभाषातिलके चत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४० ॥ [८]

दोहा–सम्वतवहिदारांकशशि, माघ कुहूयुत सोम ।
विदुरनीतिभाषातिलक, विरचो पद अनुलोम ॥ १ ॥
काशिरामको आज पितु, मंगलसेनसमेत ।
भयो सफल रचि जन्म यह, सद्गुणगणसमुपेत ॥ २ ॥
जगसमान्य मुम्बापुरी, वेंकटेशयन्त्रेश ।
मुद्रणहित अर्पण कियो, क्षितियशकरन प्रवेश ॥ ३ ॥

॥ इति विदुरनीति समाप्त ॥

॥ श्रीः ॥

यक्षधर्मप्रश्नोत्तरी ।

भाषाटीकासमेता प्रारभ्यते ।

अथारण्येपर्व ।

जनमेजय उवाच ।

एवं हतायां भार्यायां प्राप्य क्लेशमनुत्तमम् ।
प्रतिपद्य ततः कृष्णां किमकुर्वत पांडवाः॥ १ ॥

नत्वा कृष्णं यक्षधर्मप्रश्नोत्तरमालिकाम् ॥
अलङ्करोमि नृगिरा टीकया विशदार्थया ॥ १ ॥

राजा जनमेजय वैशंपायनजीसे कहनेलगे--कि हे ऋषिवर्य ! जब इसप्रकार जयद्रथ करके द्रौपदी हरीगई और घोर क्लेश प्राप्त होगया, तिसके अनंतर द्रौपदीको प्राप्त होकर पांडव क्या करते भये ? ॥ १ ॥

दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥ ३२॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरवाक्ये चत्वारिंशोऽध्यायः॥४०॥ [८]

॥ समाप्तमिदं प्रजागरपर्व ॥

प्राणीकर समर्थ नहीं होसक्ताहै इससे प्रारब्धको ही अचल मानताहूँ और पौरुष निरर्थक है ॥ ३२ ॥

गुरुप्रसादानुभावेन भाषा विदुरनीतिके
समपूर्यत तां दृष्ट्वा सन्तो मे सन्तु शंकराः ॥ १ ॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागरपर्वणि विदुरहितवाक्ये श्रीढाढौलीग्रामस्थ-पाठकवंशावतंस-पंडितमंगलसेनात्मजकाशिरामविरचितभाषातिलके चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥ [८]

दोहा—सम्बतवह्निशरांकशशि, माघ कुहूयुत सोम ।
विदुरनीतिभाषातिलक, विरचो पद अनुलोम ॥ १ ॥
काशिरामको आज पितु, मंगलसेनसमेत ।
भयो सफल रचि जन्म यह, सद्गुणगणसमुपेत ॥ २ ॥
जगतमान्य मुम्बापुरी, वेंकटेशयन्त्रेश ।
मुद्रणहित अर्पण कियो, क्षितियशकरन प्रवेश ॥ ३ ॥

॥ इति विदुरनीति समाप्त ॥

ह्रियमाणं तु तं दृष्ट्वा स विप्रः कुरुसत्तम ।
त्वरितोऽभ्यागमत्तत्र अग्निहोत्रपरीप्सया ॥१०॥
अजातशत्रुमासीनं भ्रातृभिः सहितं वने ।
आगम्य ब्राह्मणस्तूर्णं संतप्तश्चेदमब्रवीत् ॥ ११॥
अरणीसहितं मंथं समासक्तं वनस्पतौ ।
मृगस्य घर्षमाणस्य विषाणे समसज्जत ॥ १२॥
तमादाय गतो राजंस्त्वरमाणो महामृगः ।
आश्रमात्त्वरितः शीघ्रं प्लवमानो महाजवः॥१३
तस्य गत्वा पदं राजन्नासाद्य च महामृगम् ।

कूदता हुवा आश्रमसे दूर चलागया ॥ ९ ॥ हे कुरुसत्तम ! इसप्रकार मृगसींगोंमें गयेहुए अग्निदंडको देखकर वह ब्राह्मण अग्निहोत्र करनेकी इच्छासे वहां आया कि ॥ १० ॥ जहां वनमें भ्राताओं समेत राजा युधिष्ठिर बैठे थे । दुःखित हुआ वह ब्राह्मण शीघ्र वहां आकर यह वचन कहनेलगा कि ॥ ११ ॥ हे राजन् ! अरणियों समेत अग्निदंड मैंने एकवृक्षमें रक्खा था वह खर्जू करतेहुए मृगके सींगोंमें उलझगया ॥ १२ ॥ हे राजन् ! चलताहुआ वह महामृग उसको लेकर चलागया और बडे वेगसे कूदताहुआ वह मृग शीघ्र आश्रमसे दूर चलागया ॥ १३ ॥ हे पाडु पुत्रो ! उसके पश्चात् जाकर और उस महा-

अग्निहोत्रं न लुप्येत तदानयत पांडवाः ॥ १४॥
ब्राह्मणस्य वचः श्रुत्वा संतप्तोऽथ युधिष्ठिरः ।
धनुरादाय कौंतेयः प्राद्रवद्भ्रातृभिः सह ॥ १५॥
सन्नद्धा धन्विनः सर्वे प्राद्रवन्नरपुंगवाः ।
ब्राह्मणार्थे यतंतस्ते शीघ्रमन्वगमन्मृगम् ॥ १६॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजंतो महारथाः ।
नाविध्यन्पांडवास्तत्र पश्यंतो मृगमंतिकात् १७॥
तेषां प्रयतमानानां नादृश्यत महामृगः ।
अपश्यंतो मृगं शांता दुःखं प्राप्ता मनस्विनः १८॥

मृगको प्राप्त होकर मेरे अरणीसहित अग्निदंडको लादो कि जिससे मेरा अग्निहोत्र लुप्त न हो ॥ १४ ॥ ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनकर राजा युधिष्ठिरको बडा कष्ट हुवा और इसके अनंतर यह कुंतीपुत्र धनुष लेकर भ्राताओं सहित मृगके पीछे दौडा ॥ १५ ॥ जब कि ब्राह्मणके लिये जतन करतेहुए ये नरपुंगव कवचादि धारण करके धनुष लेकर शीघ्र मृगके पीछे दौडे ॥ १६ ॥ तब युद्धमार्गमें लोहवाले और संपूर्णलोहवाले उन बाणोंको छोडतेहुए भी यह महारथ पांडव वहां मृगको समीप न देखनेके कारण मारने न पाये ॥ १७ ॥ जतन करतेहुए भी उन

शीतलच्छायमागम्य न्यग्रोधं गहने वने ।
क्षुत्पिपासापरीतांगाः पांडवाः समुपाविशन् १९
तेषां समुपविष्टानां नकुलो दुःखितस्तदा ।
अब्रवीद्भ्रातरं श्रेष्ठममर्षात्कुरुनंदनम् ॥ २० ॥
नास्मिन्कुले जातु ममज्ज धर्मो,
न चालस्यादर्थलोपो बभूव ।

वीरोंको जब वह महामृग नहीं दीखपडा तब मृगके ढूंढनेसे पे श्रांत होगये और मनस्वी ये पांडव महान् कष्टको प्राप्त हुए ॥ १८ ॥ पश्चात् उस गहनवनमें शीतलछायावाले एक वडके वृक्षकी छायामें प्राप्त होकर क्षुधा तृषासे पीडित अंगोंवाले वे पांडव बैठगये ॥ १९॥ जब सपूर्ण वहाँ बैठगये तब दुःखितहुवा नकुल, कुरुनंदनश्रेष्ठ भ्राता राजा युधिष्ठिरको क्रोधसे कहनेलगा ॥ २० ॥ हे राजन् ! इस हमारे कुलमें आजतक न कभी धर्मका लोप हुवा है और न कभी आलस्यसे अर्थका लोप हुवा है फिर संपूर्ण प्राणियोंमें कभी कोई अनुत्तर अर्थात् 'किसीका कार्य न करना' ऐसे नहीं हुएहैं परंतु न

अनुत्तराः सर्वभूतेषु भूयः,
संप्राप्ताः स्मः संशयं किन्तु राजन्॥२१॥
इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि मृगान्वेषणे एकादशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३११ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।
नापदामस्ति मर्यादा न निमित्तं न कारणम् ।
धर्मस्तु विभजत्यर्थमुभयोः पुण्यपापयोः ॥ १ ॥

जानें हम कैसे इस संदेहको प्राप्त हुए हैं कि जो ब्राह्मणका कार्य नहीं करसक्ते हैं ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि भाषाटीकायां मृगान्वेषणे एकादशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३११॥ [१]

ऐसा सुन राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । कि हे नकुल! हे भ्रात!! आपदाओंकी कोई मर्यादा नहीं है और न कोई निमित्त है न कारण है किन्तु प्रारब्धरूप धर्म ही, पुण्य और पाप इन दोनोंके फल-

भीम उवाच ।

प्रातिकाम्यनयत्कृष्णां सभायां प्रेप्यवत्तदा ।
न मया निहतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम्॥२॥

अर्जुन उवाच ।

वाचस्तीक्ष्णास्थिभेदिन्यः सूतपुत्रेण भाषिताः ।
अतितीव्रा मया क्षांतास्तेन प्राप्ताः स्म संशयम्३॥

सहदेव उवाच ।

शकुनिस्त्वां यदाजैपीदक्षद्यूतेन भारत ।
स मया न हतस्तत्र तेन प्राप्ताः स्म संशयम्॥४॥

रूप सुखदुःखोको विभाग करदिया करता है ॥ १ । यह सुन भीमसेन कहनेलगे । कि हे भ्रातः जिस समय दुष्ट दुःशासन द्रोपदीको दासीके समान केश पकडकर सभामें लेगया उस समय वह दुष्ट मैंने नहीं मारा इसलिये उस अपराधसे हमको यह कष्ट प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥ अर्जुन कहनेलगे । कि हे भ्रातः ! मैं जानताहूँ कि अतितीव्र और अस्थियोंको भेदन करनेवाली वाणी कर्णने मुझको कही और मैं क्षत्रिय होकर उनको सहगया बदला नहीं लिया इस कारण हमको यह कष्ट प्राप्त हुआ है ॥ ३ ॥ यह सुनकर सहदेव कहनेलगे । कि हे भारत ! जब शकुनि, आपको

20181

वैशंपायन उवाच ।

ततो युधिष्ठिरो राजा नकुलं वाक्यमब्रवीत् ।
आरुह्य वृक्षं माद्रेय निरीक्षस्व दिशो दश ॥ ५ ॥
पानीयमंतिके पश्य वृक्षांश्चाप्युदकाश्रितान् ।
एते हि भ्रातरः श्रांतास्तव तात पिपासिताः॥६॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा शीघ्रमारुह्य पादपम् ।
अब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमभिवीक्ष्य समंततः ॥ ७ ॥
पश्यामि बहुलान् राजन्वृक्षानुदकसंश्रयान् ।

पाशोंके जुएसे जीततामया और मैंने उस समय उसे वहां नहीं मारा इसलिये हमको यह संकट प्राप्त हुवा है ॥ ४ ॥ इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायनजी राजा जनमेजयसे बोले । हे राजन् ! जनमेजय ! पश्चात् राजा युधिष्ठिर नकुलको कहनेलगे कि हे माद्रेय ! वृक्षपर चढकर चारों तरफको देख ॥ ५ ॥ कि कहीं नजदीक ऐसे वृक्ष भी दीखते हैं कि जहां जल होवे क्योंकि ये तेरे भ्राता बडे थके हैं और प्यासे हैं ॥ ६ ॥ नकुल 'जो आज्ञा' ऐसे कहकर शीघ्र वृक्षपर चढा और चारों तरफ देखकर बडे भ्राता युधिष्ठिरसे कहनेलगा ॥ ७ ॥ हे राजन् ! एक जगह जलाश्रयवाले बहुत वृक्ष

सारसानां च निर्ह्रादमत्रोदकमसंशयम् ॥ ८ ॥
ततोऽब्रवीत्सत्यधृतिः कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
गच्छ सौम्य ततः शीघ्रं तूर्णं पानीयमानय ॥ ९ ॥
नकुलस्तु तथेत्युक्त्वा भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासनात् ।
प्राद्रवद्यत्र पानीयं शीघ्रं चैवान्वपद्यत ॥ १० ॥
स दृष्ट्वा विमलं तोयं सारसैः परिवारितम् ।
पातुकामस्ततो वाचमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ ११ ॥

यक्ष उवाच ।

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।

दीखते हैं और सारसोंके शब्द सुनपडते हैं इसलिये जानता हूँ कि वहाँ निश्चय जल होगा ॥ ८ ॥ ऐसा वाक्य सुनकर पश्चात् सत्यधारी कुंतीके पुत्र राजा युधिष्ठिर कहनेलगे कि हे सौम्य ! तुम शीघ्र जाओ और तरकसोंमें जल भरके लेआओ ॥ ९ ॥ नकुल 'जो आज्ञा' ऐसे कहकर बडे भ्राता राजा युधिष्ठिरकी आज्ञासे शीघ्र वहां प्राप्त हुवा कि जहां जल था॥१०॥वह नकुल सारसोंसे घिराहुवा वहां स्वच्छ जल देखकर ज्योंही पानीकी इच्छासे चला कि आकाशसे वाणी सुननेमें आई ॥ ११ ॥ उस आकाशवाणीसे यक्ष कहनेलगा । कि हे तात ! यह जलपानरूप साहस तुम त्याग दो क्यों कि जिससे प्रथम

प्रश्नानुक्त्वा तु माद्रेय ततः पिब हरस्व च ॥१२॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यं नकुलः सुपिपासितः।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥१३॥
चिरायमाणे नकुले कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अब्रवीद्भ्रातरं वीरं सहदेवमरिंदमम् ॥ १४ ॥
भ्राता हि चिरयातो नः सहदेव तवाग्रजः।
तथैवानय सोदर्यं पानीयं च त्वमानय ॥ १५ ॥
सहदेवस्तथेत्युक्त्वा तां दिशं प्रत्यपद्यत।
ददर्श च हतं भूमौ भ्रातरं नकुलं तदा ॥ १६ ॥

मेरा नियम है इसलिये हे माद्रीके पुत्र ! मेरे प्रश्नोंको कहकर जल पीओ और लेजाओ ॥ १२ ॥ तृषासे व्याकुलहुवा नकुलने उस वाणीका अनादर करके शीतल जल पानकिया और पान करते ही पृथ्वीपर गिरपडा ॥ १३ ॥ वहां जय गयेहुए नकुलको बहुत देर होगई तब कुंतीका पुत्र राजा युधिष्ठिर शत्रुओंको दमन करनेवाले वीर भ्राता सहदेवको कहनेलगे कि ॥ १४ ॥ हे सहदेव ! तुम्हारे बडे भ्राता नकुल जललानेको बहुत देरसे गयेहैं आये नहीं क्या कारण हुआ ? इसलिये तुम जाओ उनको भी बुलाते आओ और जल भी लेते आओ ॥ १५ ॥ सहदेव 'जो आज्ञा' ऐसे कहकर उसी जगह प्राप्त

भ्रातृशोकाभिसंतप्तस्तृपया च प्रपीडितः ।
अभिदुद्राव पानीयं ततो वागभ्यभाषत ॥ १७ ॥
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा यथाकामं पिबस्व च हरस्व च ॥ १८ ॥
अनादृत्य तु तद्वाक्यं सहदेवः पिपासितः ।
अपिबच्छीतलं तोयं पीत्वा च निपपात ह ॥ १९ ॥
अथाऽब्रवीत्स विजयं कुंतीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भ्रातरौ ते परिगतौ बीभत्सो शत्रुकर्शन ॥ २० ॥

हुवा और वहां देखता क्या है कि भ्राता नकुल मरेहुए पृथ्वीपर पडे हैं॥ १६॥ भ्राता नकुलके शोकसे संतप्त और तृपासे पीडित हुवा सहदेव ज्योंही जलपीनेके लिये शीघ्रता कर चला कि त्योंही फिर पूर्वके समान वह यक्षवाणी सुनाई पडी ॥ १७ ॥ कि हे तात ! साहस मत करो मेरा किया हुवा नियमको सुनकर मेरे प्रश्नोंका उत्तर करके जलपान करो और लेजाओ, अर्थात् नहीं तो तुम्हारी भी यही दशा होगी ॥ १८ ॥ तृपासे पीडितहुए सहदेवने ज्योंही उस वाक्यका अनादर कर जलपान किया कि त्योंही बेसुध हो पृथ्वीपर गिरपडा ॥ १९ ॥ इसके अनतर कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर अर्जुनको कहनेलगे कि हे बीभत्सो ! हे शत्रु-

तौ चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां दुःखितानामपाश्रयः ॥२१॥
एवमुक्तो गुडाकेशः प्रगृह्य सशरं धनुः ।
आमुक्तखड्गो मेधावी तत्सरः प्रत्यपद्यत ॥२२॥
ततः पुरुषशार्दूलौ पानीयहरणे गतौ ।
तौ ददर्श हतौ तत्र भ्रातरौ श्वेतवाहनः ॥ २३ ॥
प्रसुप्ताविव तौ दृष्ट्वा नरसिंहः सुदुःखितः ।
धनुरुद्यम्य कौंते ो व्यलोकयत तद्वनम् ॥२४ ॥

फल्गुन ! तुम्हारे भ्राता नकुल और सहदेव जल लानेको गयेथे कि नहीं आये ॥ २० ॥ इसलिये हे तात ! तुम उनको लाओ तुम्हारा कल्याण हो क्यों कि जिससे हम संपूर्ण दुःखितोंका आसरा तुम ही हो हो ॥ २१ ॥ ऐसे कहाहुआ अर्जुन धनुष बाण चढाकर और म्यानसे तलवार निकालकर उस सरोवरको प्राप्त हुआ ॥ २२ ॥ कि जहां पुरुषशार्दूल नकुल और सहदेव जल लानेको गयेथे और वहां देखता क्या है कि नकुल और सहदेव दोनों भ्राता मरेहुए पडे है ॥ ॥ २३ ॥ यह मनुष्योंमें सिंहरूप कुंतीका पुत्र अर्जुन, मृतकके समान दोनों भ्राताओंको देखकर अत्यंत दुःखित हुआ और धनुषपर

नापश्यत्तत्र किंचित्स भूतमस्मिन्महावने ।
सव्यसाची ततः श्रांतः पानीयं सोऽभ्यधावत२५
अभिधावंस्ततो वाक्यमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ।
किमासीदसि पानीयं नैतच्छक्यं बलात्त्वया.२६
कौंतेय यदि प्रश्नांस्तान्मयोक्तान्प्रतिपत्स्यसे ।
ततः पास्यसि पानीयं हरिष्यसि च भारत२७॥
वारितस्त्वब्रवीत्पार्थो दृश्यमानो निवारय ।
यावद्बाणैर्विनिर्भिन्नः पुनर्नैवं वदिष्यसि ॥२८॥

बाण चढाकर उस बनमें इधर उधर देखनेलगा ॥ २४ ॥ जब यह सव्यसाची उस महावनमें ढूंढताहुवा किसी प्राणीमात्रको भी प्राप्त न होताभया तब थका और प्यासा अर्जुन पानी पीनेको दौडा ॥ २५ ॥ और तिसके अनंतर दौडतेहुए अर्जुनने आकाशसे यह वाक्य सुना देखना ! क्या दौडकर जलपीनेको जातेहो?यह जल बलसे मिलनेवाला नहीं है॥ २६॥ हे कुंतीके पुत्र ! हे भारत ! जो तुम्हारी जल पीनेकी और लेजानेकी इच्छा है सो प्रथम मेरे कहेहुए प्रश्नोंका उत्तर करना॥ ॥ २७ ॥ ऐसे रोकाहुवा अर्जुन कहनेलगा कि कौन रोकनेवाला है मेरे सन्मुख होकर रोक क्यों कि जिससे मेरे बाणोंसे विदीर्ण अंगों

एवमुक्त्वा ततः पार्थः शरैरस्त्रानुमंत्रितैः ।
प्रववर्ष दिशः कृत्स्नाः शब्दवेधं च दर्शयन्२९ ॥
कर्णिनालीकनाराचानुत्सृजन् भरतर्षभ ।
सत्वमोघानिषून्मुक्त्वा तृष्णयाभिप्रपीडितः ३०
अनेकैरिपुसंघातैरंतरिक्षे   पं ह ।

यक्ष उवाच ।

किं विधानेन ते पार्थ प्रश्नानुक्त्वा ततः पिव३१॥
अनुक्त्वा च पिबन्प्रश्नान्पीत्वैव न भविष्यसि ।
एवमुक्तस्ततः पार्थः सव्यसाची धनंजयः ॥३२॥

वाला हुना फिर ऐसे नहीं कहेगा ॥ २८ ॥ फिर अर्जुन ऐसा कहकर शब्दवेधको दिखाताहुवा दशोंदिशाओंमें बाणोंकी वृष्टि करनेलगा ॥ २९ ॥ वैशंपायनजी राजा जनमेजयसे कहते हैं कि हे भरतर्षभ ! जब इसप्रकार छोडेहुए बाण अर्जुनके निष्फल होगये तब महाकष्टसे व्याप्तहुवा अर्जुन तृषासे पीडित होगया ॥ ३० ॥ पश्चात् जब अनेक बाणसमूहोंकी वर्षा आकाशमें करी तब फिर यक्ष कहनेलगा कि हे पार्थ ! इस तेरे वृथाप्रयाससे क्या होनाहै ? मेरे प्रश्नोंका उत्तर कर और पश्चात् जलपान कर ॥ ३१ ॥ और जो प्रश्नोंका

अवज्ञायैव तां वाचं पीत्वैव निपपात ह ।
अथाब्रवीद्भीमसेनं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ३३॥
नकुलः सहदेवश्च बीभत्सुश्च परंतप ।
चिरं गतास्तोयहेतोर्न चागच्छंति भारत ॥३४॥
तांश्चैवानय भद्रं ते पानीयं च त्वमानय ।
भीमसेनस्तथेत्युक्त्वा तं देशं प्रत्यपद्यत॥ ३५ ॥
यत्र ते पुरुषव्याघ्रा भ्रातरोऽस्य निपातिताः ।
तान्दृष्ट्वा दुःखितो भीमस्तृपया च प्रपीडितः ३६

उत्तर नहीं करके जलपान करेगा तो जलपान करते ही तेरे भ्राताओंवाली तेरी भी दशा होगी। ऐसे कहाहुवा पृथाका पुत्र सव्यसाची (दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाला) अर्जुनने ॥ ३२ ॥ उस वाणीका तिरस्कार करके ज्योंही जलपान किया कि त्योंही मूर्छित हो पृथ्वीपर गिरपडा । इसके अनंतर कुंतीपुत्र राजा युधिष्ठिर भीमसेनसे कहने लगे ॥ ३३ ॥ कि हे परंतप ! हे भारत ! नकुल सहदेव और अर्जुन जल लानेको गये थे बहुत देर होगई आये नहीं ॥ ३४ ॥ हे भ्रातः ! तुम्हारा कल्याण हो तुम उन तीनोंको भी लाओ और पानी भी लाओ । ऐसे कहेहुए भीमसेन 'जो आज्ञा' ऐसा कहकर उस सरोवरको प्राप्तहुए कि जहां इसके पुरुषव्याघ्र भ्राता अर्जुनआदि पडेथे

अमन्यत महाबाहुः कर्म तद्यक्षरक्षसाम् ।
स चिंतयामास तदा योद्धव्यं ध्रुवमद्य वै ॥३७॥
पास्यामि तावत्पानीयमिति पार्थो वृकोदरः ।
ततोऽभ्यधावत्पानीयं पिपासुः पुरुषर्षभः॥ ३८॥
यक्ष उवाच ।
मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च३९॥
एवमुक्तस्तदा भीमो यक्षेणामिततेजसा ।
अनुक्त्वैव तु तान्प्रश्नान्पीत्वैव निपपात ह॥४०॥

उनको देखकर भीमसेन दुःखित हुआ और तृषासे अत्यंत पीडित हुआ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ पश्चात् इस महाबाहु भीमसेनने विचार किया कि यह किसी यक्ष राक्षसका काम है इसलिये मैं अवश्य उसके साथ युद्ध करूंगा ॥ ३७ ॥ परंतु जल तो पीलेताहूँ ! ऐसा विचार करके यह पुरुषश्रेष्ठ पृथाका पुत्र भीमसेन ज्योंही जल पीनेको चला कि यक्ष बोला ॥ ३८ ॥ यक्ष कहनेलगा कि हे तात ! हे कौंतेय ! साहस न करना प्रथम मेरा किया नियम सुनना कि मेरे प्रश्नोंको कहकर जल पीवो और लेजाओ ॥ ३९ ॥ अतितेजस्वी यक्षने जब भीमसे-

ततः कुन्तीसुतो राजा प्रचिन्त्य पुरुपर्षभः ।
समुत्थाय महाबाहुर्दह्यमानेन चेतसा ॥ ४१ ॥
व्यपेतजननिर्घोषं प्रविवेश महावनम् ।
रुरुभिश्च वराहैश्च पक्षिभिश्च निषेवितम् ॥ ४२ ॥
नीलभास्वरवर्णैश्च पादपैरुपशोभितम् ।
भ्रमरैरुपगीतं च पक्षिभिश्च महायशाः ॥ ४३ ॥
स गच्छन्कानने तस्मिन् हेमजालपरिष्कृतम् ।
ददर्श तत्सरः श्रीमान्विश्वकर्मकृतं यथा ॥ ४४ ॥

नसे ऐसा कहा तब इस यक्षके प्रश्न नहीं कहकर ही इस भीमसेनने जलपान करलिया और जलपान करते ही भीमसेन भी औरोंके समान गिरपडा ॥ ४० ॥ तदनंतर पुरुषोंमें श्रेष्ठ और महाबाहु यह कुंतीका पुत्र राजा युधिष्ठिर दग्ध होतेहुए चित्तसे चिंतन करके उठा और उठकर ॥ ४१ ॥ उस महावनमें प्रविष्ट हुए जो कि मनुष्योंके शब्दोंसे रहित था और मृग वराह,पक्षियोंसे सेवित था ॥ ४२ ॥ और जो कि नीली देदीप्यमान कांतिवाले वृक्षोंसे शोभित था और भ्रमर तथा पक्षियोंसे शब्दित था ऐसे उस वनमें चलते हुए वह महायशा राजा युधिष्ठिर एक सरोवरको देखतेभये कैसा वह सरोवर है कि सुवर्ण सदृश पुष्पोंकी केसरके जालसे

उपेत नलिनीजालैः सिंदुवारैः सवेतसैः ।
केतकैः करवीरैश्च पिप्पलैश्चैव संवृतम् ।
श्रमार्तस्तदुपागम्य सरो दृष्ट्वाऽथ विस्मितः॥४५॥
इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेय-
पर्वणि नकुलादिपतने द्वादशाधिकत्रिशत-
तमोऽध्यायः ॥ ३१२ ॥

वैशंपायन उवाच ।

स ददर्श हतान्भ्रातॄँल्लोकपालानिव च्युतान्।
युगांते समनुप्राप्ते शक्रप्रतिमगौरवान् ॥ १ ॥

परिस्कार कियाहुवा मानों विश्वकर्माको रचा है ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ और कमोदिनी, निर्गुंडी, वेत इन्होंसे व्याप्त है। और केतकी, कनेर, पीपल इन्होंसे युक्त है। पश्चात् श्रमसे पीडित हुए राजा युधिष्ठिर वहां प्राप्त हुए और उस सरोवरको देखकर अति आश्चर्य करनेलगे ॥४५॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि भाषाटीकायां नकुलादिपतने द्वादशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥३१२॥ (२)

इतनी कथा कहकर फिर राजा जनमेजयसे वैशंपायनजी कहते हैं कि हे राजन् ! जनमेजय ! वह राजा युधिष्ठिर इंद्रतुल्य गौरववाले उन

विनिकीर्णधनुर्बाणं दृष्ट्वा निहतमर्जुनम् ।
भीमसेनं यमौ चैव निर्विचेष्टान्गतायुषः ॥ २ ॥
स दीर्घमुष्णं निःश्वस्य शोकबाष्पपरिप्लुतः ।
तान्दृष्ट्वा पतितान्भ्रातृन्सर्वांश्चितासमन्वितः॥३॥
धर्मपुत्रो महाबाहुर्विललाप सुविस्तरम् ।
ननु त्वया महाबाहो प्रतिज्ञातं वृकोदर ॥ ४ ॥
सुयोधनस्य भेत्स्यामि गदया सक्थिनी रणे ।
व्यर्थं तदद्य मे सर्वं त्वयि वीरे निपातिते॥५॥

हत भ्राताओंको उस कालमें इस प्रकार देखतेभये कि मानों युगांत प्रलयमें च्युत (अपने २ लोकोंसे गिरेहुए) लोकपाल हैं ॥ १ ॥ बिखरे पडे हैं धनुप बाण जिसके ऐसे मूर्छित अर्जुनको देखकर और चेष्टारहित तथा गतायु भीमसेन और नकुल सहदेवको देखकर ॥२॥ राजा युधिष्ठिरने उष्ण श्वास छोडा । पश्चात् शोकबाष्पसे युक्त और चिंतासे व्याकुलहुवा यह धर्मपुत्र महाबाहु राजा युधिष्ठिर पडेहुए संपूर्ण भ्राताओंको देखकर बारंबार विलाप करनेलगा कि हे महाबाहो ! हे वृकोदर ! तुमने तो प्रतिज्ञा की थी कि मैं युद्धमें दुर्योधनकी जंवाओंको गदासे विदीर्ण करूंगा । इस लिये हे वीर ! तेरे पडनेसे यह सब मेरा विचार निरर्थक होगया ॥ ३ ॥

महात्मनि महाबाहो कुरूणां कीर्तिवर्धने।
मनुष्यसंभवा वाचो विधर्मिण्यः प्रतिश्रुताः॥६॥
भवतां दिव्यवाघस्तु ता भवंतु कथं नृप।
देवाश्चापि यदावोचन्मृतके त्वां धनंजय ॥ ७ ॥
सहस्राक्षादनवरः कुन्ति पुत्रस्तवेति वै।
उत्तरे पारियात्रे च जगुर्भूतानि सर्वशः ॥ ८ ॥
विप्रनष्टां श्रियं चैषामाहर्ता पुनरंजसा।
नास्य जेता रणे कश्चिदजेता नैष कस्यचित्९॥

॥ ४ ॥ ५ ॥ हे महाबाहो ! हे अर्जुन ! कौरवोंकी कीर्ति बढानेवाले तुझमें प्रतिज्ञा कीहुई मनुष्यवाणी आज असत्य होगई परंतु ॥ ६ ॥ तुम्हारी देववाणी तो कैसे असत्य होगी कि जो मृतकमें ही देवता तुझको कहतेभये कि ॥ ७ ॥ हे कुंति ! यह तेरा पुत्र इंद्रसे कुछ कम न होगा क्यों कि जिसने उत्तर पारियात्रमें अर्थात् विन्ध्याचलके दक्षिण प्रदेशमें सब जगह इसका यश गायाजायगा ॥ ८ ॥ जैसे कि नष्टहुई भी इन पांडवोंकी लक्ष्मीको यह फिर लाकर प्राप्त करदेगा और रणमें कोई इसका जीतनेवाला न होगा और ऐसा भी कोई न होगा कि जिसको यह न जीतसके अर्थात् रणमें यह सभीका जीतने-

सोऽयं मृत्युवशं यातः कथं जिष्णुर्महाबलः ।
अयं ममाशां संहृत्य शेते भूमौ धनंजयः ॥१०॥
आश्रित्य यं वयं नाथं दुःखान्येतानि सेहिम ।
रणे प्रमत्तौ वीरौ च सदा शत्रुनिबर्हणौ ॥ ११ ॥
कथं रिपुवशं यातौ कुन्तीपुत्रौ महाबलौ ।
यौ सर्वास्त्राप्रतिहतौ भीमसेनधनंजयौ ॥ १२ ॥
अश्मसारमयं नूनं हृदयं मम दुर्हृदः ।
यमौ यदेतौ दृष्ट्वाद्य पतितौ नावदीर्यते ॥ १३ ॥

थाला होगा ॥ ९ ॥ सो यह ऐसा महाबली अर्जुन भी कैसे मृत्युको प्राप्त होगया । अहो यह ऐसा अर्जुन भी मेरी आशाको नष्ट करके कैसे पृथ्वीपर सोगया ॥ १०॥ हाय ! हम तो इसीको नाथ मानकर आश्रित होकर इन दुःखोंको सहते थे । और रणमें सर्वदा शत्रुओंको नष्ट करनेवाले प्रमत्त और महावीर ॥ ११ ॥ महाबलवान कुंतीके पुत्र भीमसेन और अर्जुन संपूर्ण शस्त्र अस्त्रोंसे अवध्य होनेपर भी कैसे शत्रुके वश होगये ॥ १२ ॥ हाय ! बुरे हृदयवालेका मेरा हृदय निश्चय पत्थरका है क्यों कि जिससे अब पडेहुए

शास्त्रज्ञा देशकालज्ञास्तपोयुक्ताः क्रियान्विताः ।
अकृत्वा सदृशं कर्म किं शेध्वं पुरुषर्षभाः॥१४॥
अविक्षतशरीराश्चाप्यप्रमृष्टशरासनाः ।
असंज्ञा भुवि संगम्य किं शेध्वमपराजिताः१५॥
सानूनिवाद्रेः संसुप्तान्दृष्ट्वा भ्रातॄन्महामतिः ।
सुखं प्रसुप्तान्प्रस्विन्नः खिन्नः कष्टां दशां गतः १६
एवमेवेदमित्युक्त्वा धर्मात्मा स नरेश्वरः ।
शोकसागरमध्यस्थो दध्यौ कारणमाकुलः१७॥

इन नकुल सहदेवको देखकर नहीं फटता है ॥ १३ ॥ अहो शास्त्रोंके जाननेवाले देशकालके जाननेवाले तपस्वी क्रियाओंसे युक्त ये पुरुषश्रेष्ठ अपने सदृश कर्म नहीं करके क्यों पृथ्वीपर सोगये ॥ १४ ॥ अहो कहीं न इनके शरीरपर घाव हुवा न कोई धनुष बाण टूटा फिर भी यह अजेय वीर किसकारण संज्ञारहित हुए पृथ्वीपर सोतेहैं॥ ॥ १५ ॥ यह महामति राजा युधिष्ठिर सुखपूर्वक सोतेहुए पर्वतकी शिखरोंकी तरह अपने भ्राताओंको देखकर अति दुःखित होनेके कारण इसके शरीरमें पसीने आगये और महाकष्ट दशाको प्राप्तहुए ॥ ॥ १६ ॥ 'यह ऐसा ही होना था' इसप्रकार यह धर्मात्मा राजा

इतिकर्तव्यतां चेति देशकालविभागवित् ।
नाभिपेदे महाबाहुश्चिंतयानो महामतिः ॥ १८॥
अथ संस्तभ्य धर्मात्मा तदात्मानं तपःसुतः ।
एवं विलप्य बहुधा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ १९ ॥
बुद्ध्या विचिंतयामास वीराः केन निपातिताः२०
नेषां शस्त्रप्रहारोऽस्ति पदं नेहास्ति कस्यचित् ।
भूतं महदिदं मन्ये भ्रातरो येन मे हताः ॥ २१॥
एकाग्रं चिंतयिष्यामि पीत्वा वेत्स्यामि वा जलम्

युधिष्ठिर कहकर शोकसागरके वीचमें स्थित होकर व्याकुलहुवा कारणको विचारताभया ॥ १७ ॥ देशकालके विभागको जानता हुवा यह महाबाहु और महामति राजा युधिष्ठिर चिन्तन करताहुवा भी 'यह किसका कियाहुवा कर्म है' यह नहीं जानताभया ॥ १८ ॥ पश्चात् ऐसे बहुत प्रकारसे विलाप करके यह धर्मपुत्र धर्मात्मा तपस्वी राजा युधिष्ठिर अपने आत्मामें धैर्य धारण करता भया ॥ १९ ॥ पश्चात् बुद्धिसे चिंतन करनेलगा कि ये वीर किसने गिरादिये ॥ २०॥ न इनके शस्त्रका प्रहार है न किसीका यहां स्थान है कोई बडा भारी कारण है कि जिससे ये मेरे भ्राता हत हुए हैं ॥ २१ ॥ जलपान करके एकान्तमें मैं इसको चिंतन करूंगा क्यों कि कदाचित् दुर्योध-

स्यात्तु दुर्योधनेनेदमुपांशु विहितं कृतम् ॥ २२॥
गांधारराजचरितं सततं जिह्मबुद्धिना ।
यस्य कार्यमकार्यं वा सममेव भवत्युत ॥ २३ ॥
कस्तस्य विश्वसेद्वीरो दुष्कृतेरकृतात्मनः।
अथवा पुरुषैर्गूढैः प्रयोगोऽयं दुरात्मनः ॥ २४॥
भवेदिति महाबुद्धिर्बहुधा तदचिंतयत् ।
तस्यासीन्न विषेणेदमुदकं दूषितं यथा ॥ २५ ॥
मृतानामपि चैतेषां विकृतं नैव जायते ।
सुखवर्णाः प्रसन्ना मे भ्रातॄणामित्यचिंतयत्॥२६॥

नने ही एकांतमें यह काम न किया हो ॥ २२ ॥ अथवा जिसके अच्छा और बुरा दोनो कार्य समान हैं ऐसा कुटिल गांधारराज (शकुनि) का काम है ! ॥ २३ ॥ अथवा बुरा कर्म करनेवाला और अकृतात्मा इस दुर्योधनका कौन विश्वास करे कि कभी दुरात्माने किसी गूढपुरुषों करके यह प्रयोग कराया हो ॥ २४ ॥ पश्चात् यह महाबुद्धि बहुत प्रकारसे चिंतन करताहुवा कि कभी यह इस सरोवरका जल ही विषसे दूषित न हो ॥ २५ ॥ फिर कहताहै कि जल तो विषदूषित नहीं क्योंकि जिससे मेरे भ्राताओंके मुखवर्ण प्रसन्न हैं

एकैकशश्चौघबलानिमान्पुरुषसत्तमान् ।
कोऽन्यः प्रतिसमासेत कालांतकयमादृते ॥२७॥
एतेन व्यवसायेन तत्तोयं व्यवगाढवान् ।
गाहमानश्च तत्तोयमंतरिक्षात्स शुश्रुवे ॥ २८ ॥

यक्ष उवाच ।

अहं बकः शैवलमत्स्यभक्षो,
नीता मया प्रेतवशं तवानुजाः ।
त्वं पंचमो भविता राजपुत्र,
न चेत्प्रश्नान्पृच्छतो व्याकरोषि ॥ २९ ॥

॥२६॥इन एक एक भी महाबलवान पुरुषसत्तमोंको, कालांतक धर्मराजके विना अन्य कौन युद्धमें सामने खडा होसकताहै ॥ २७ ॥ ऐसा निश्चय करके ज्योंही सरोवरका जलपान करनेको चले कि त्योंही आकाशवाणी सुनपडी ॥ २८ ॥ यक्ष कहनेलगा । कि हे राजपुत्र !. मैं सिवाल और मछली खानेवाला बगला हूँ और मैंने ही ये चारों परे छोटे भ्राता प्रेतभावके वशमें प्राप्त किये हैं इसलिये यदि तुम भी पांचवें मेरे पूछेहुए प्रश्नोंका उत्तर न करोगे तो इसी दशाको प्राप्त

मा तात साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च ॥३०॥
युधिष्ठिर उवाच ।
रुद्राणां वा वसूनां वा मरुतां वा प्रधानभाक् ।
पृच्छामि को भवान्देवो नैतच्छकुनिना कृतम् ३१
हिमवान्पारियात्रश्च विंध्यो मलय एव च ।
चत्वारः पर्वताः केन पातिता भूरितेजसः ॥३२॥
अतीव ते महत्कर्म कृतं च बलिनां वर ।
यान्न देवा न गंधर्वा नासुराश्च न राक्षसाः ॥३३॥

होजाओगे ॥ २९ ॥ हे तात ! हे कौन्तेय ! साहस मत करो मेरे नियमके अनुसार मेरे प्रश्नोंको कहकर फिर जल पीवो और लेजाओ ॥ ३० ॥ ऐसा सुनकर राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । कि मैं पूछता हूँ ११ रुद्रोंमें अथवा ८ वसुवोंमें अथवा ९ पवनोंमें आप कौन प्रधान देव भगवान हो क्यों कि जिससे पक्षीका अर्थात् बगलाका यह काम हो नहीं सकता ॥ ३१ ॥ अहो ! हिमवान, पारियात्र विंध्याचल तथा मलयाचल इनके समान बडे तेजस्वी मेरे चारों भ्राता किस प्रकार गिराये ॥ ३२ ॥ हे बलियोंमें श्रेष्ठ ! यह आपने वह

विपहेरन्महायुद्धे कृतं ते तन्महाद्भुतम् ।
न ते जानामि यत्कार्यं नाभिजानामि कांक्षितम् २४
कौतूहलं महज्जातं साध्वसं चागतं मम ।
येनाऽस्म्युद्विग्नहृदयः समुत्पन्नशिरोज्वरः॥ २५॥
पृच्छामि भगवंस्तस्मात्को भवानिह तिष्ठति ।

यक्ष उवाच ।

यक्षोऽहमस्मि भद्रं ते नास्मि पक्षी जलेचरः २६
मयैते निहताः सर्वे भ्रातरस्ते महौजसः ।

वैशंपायन उवाच ।

ततस्तामशिवां श्रुत्वा वाचं स परुषाक्षरम् ॥२७॥

बडा भारी काम किया है कि जिसको देव गंधर्व असुर और राक्षस कोई भी महायुद्धमें नहीं करसकतेहैं परंतु आपने जैसे यह कार्य किया है और जिस इच्छासे किया है वह मै नहीं जानता हूँ ॥२३॥२४॥ इस आपके कार्यसे मेरे बडा आश्चर्य उत्पन्न हुवा है और दुःख भी उत्पन्न हुवा है इसी लिये उद्विग्नहृदय और शिरपीडावाला हुवा हूँ ॥ २५॥ इस लिये हे भगवन् ! मैं आपसे पूछता हूँ कि आप कौन हैं। ऐसे सुनकर यक्ष कहनेलगे कि हे राजन् ! तेरा कल्याण हो मैं जलचर पक्षी नहीं हूं किंतु यक्ष हूं॥२६॥और मैने ही ये तेरे संपूर्ण

यक्षस्य ब्रुवतो राजन्नुपक्रम्य तदा स्थितः ।
विरूपाक्षं महाकायं यक्षं तालसमुच्छ्रयम्॥ ३८॥
ज्वलनार्कप्रतीकाशमधृष्यं पर्वतोपमम् ।
वृक्षमाश्रित्य तिष्ठंतं ददर्श भरतर्षभः ॥ ३९ ॥
मेघगम्भीरनादेन तर्जयंतं महास्वनम् ।

यक्ष उवाच ।

इमे ते भ्रातरो राजन्वार्यमाणा मयाऽसकृत् ४०॥

महापराक्रमी भ्राता हनन कियेहैं । वैशंपायनजी कहतेहैं कि हे राजन् ! जनमेजय । तिसके अनंतर ऐसा कहतेहुए यक्षकी यह कठोर अक्षरोंवाली अमंगलवाणी सुनकर राजा युधिष्ठिर सावधानीसे स्थित हुआ और भयंकर हैं नेत्र जिसके, बडा है शरीर जिसका, ताडके समान है ऊँचाई जिसकी ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ देदीप्यमान अग्निके सदृश, तेजस्वी, पर्वतके सदृश, वृक्षको आश्रित करके स्थित होता हुआ है ऐसे इस यक्षको देखतामया ॥ ३९ ॥ कैसा वह यक्ष है कि मेघसदृश, गंभीर वाणीसे महा शब्दको झिडकताहुआ है । यक्ष कहनेलगा । कि हे राजन् ! मैंने ये तेरे भ्राता वारंवार निवारण भी

बलात्तोयं जिहीर्षंतस्ततो वै मृदिता मया ।
न पेयमुदकं राजन्प्राणानिह परीप्सता ॥ ४१ ॥
पार्थ मा साहसं कार्षीर्मम पूर्वपरिग्रहः ।
प्रश्नानुक्त्वा तु कौंतेय ततः पिब हरस्व च४२॥

युधिष्टिर उवाच ।

न चाहं कामये यक्ष तव पूर्वपरिग्रहम् ।
कामं नैतत्प्रशंसंति संतो हि पुरुषाः सदा॥ ४३॥
यदात्मना स्वमात्मानं प्रशंसेत्पुरुषर्षभ ।

किये ॥ ४० ॥ परतु इन्होंने मेरा कहा नहीं माना और ज़बरदस्ती जल लेनेको दौडे इसी लिये मुझसे मर्दित कियेहुए पडेहैं । और हे राजन् ! प्राणोंको चाहतेहुवोंने तुमने भी यह जलपान नहीं करना ॥ ४१ ॥ हे पार्थ ! हे कौंतेय ! तुमने भी वृथा साहस नहीं करना क्यों कि जिससे मेरा नियम है कि मेरे प्रश्नोंका उत्तर करके जल पीओ और लेजाओ ॥ ४२ ॥ ऐसे सुन राजा युधिष्टिर कहनेलगे । कि हे यक्ष ! यद्यपि मैं इस आपके पूर्वपक्ष करनेकी इच्छा नहीं करताहूँ क्यों कि संत पुरुष सदा ऐसे पक्षपातकी श्लाघा नहीं करते हैं ॥४३॥ इस लिये हे पुरुषश्रेष्ठ ! अपना आत्मा करके अपना आ-

यथाप्रज्ञं तु ते प्रश्नान्प्रतिवक्ष्यामि पृच्छ माम् ४४

यक्ष उवाच ।

किंस्विदादित्यमुन्नयति के च तस्याभितश्चराः ।
कश्चैनमस्तं नयति कस्मिंश्च प्रतितिष्ठति॥ ४५॥

युधिष्ठिर उवाच ।

ब्रह्मादित्यमुन्नयति देवास्तस्याभितश्चराः ।
धर्मश्चास्तं नयति च सत्ये च प्रतितिष्ठति॥४६॥

स्माकी मैं प्रशंसा नहीं करता कि मैं यथार्थ आपके प्रश्नोंका उत्तर कर ही दूंगा, हां! आप पूछें अपनी बुद्धिके अनुसार मैं आपके प्रश्नोंका उत्तर करूंगा ॥ ४४ ॥ अब यहांसे प्रश्नोत्तरमालिका प्रारंभ है जिसमें यक्षरूप धर्मकरके युधिष्ठिरकेलिये आत्मतत्त्वनिर्णय किया जाता है क्यों कि जिससे आत्मतत्त्वदर्शी ज्ञानी सहज ही शोकादिकोंको तरजाता है। यक्ष कहनेलगे । यक्षप्रश्न-सूर्यका उदय कौन करता है ? १ इसके चारोंतरफ होनेवाले कौन हैं? २ इसका अस्त करनेवाला कौन है? ३ और यह सूर्य स्थित किसमें है ? ४। ॥४५॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । युधिष्ठिरकृत उत्तर सूर्यतुल्य जीवको वेद उदय करताहै अर्थात् देहादि अभिमानरूप अज्ञानसे छुडाकर ब्रह्म-

यक्ष उवाच ।

केनस्विच्छ्रोत्रियो भवति केनस्विद्विंदते महत् ।
केनस्विद्द्वितीयवान्भवतिराजन्केनचबुद्धिमान्४७

युधिष्ठिर उवाच ।

श्रुतेन श्रोत्रियो भवति तपसा विंदते महत् ।
धृत्या द्वितीयवान्भवति बुद्धिमान्वृद्धसेवया४८

स्वरूप कहताहै १ । उसके चारोंतरफ शम दम आदि रहतेहैं अर्थात् बिना शम दम आदिके वेदवेत्ता भी नहीं जानसकता २। इसको अस्त करनेवाला धर्म है अर्थात् इस आत्माको हृदयाकाशमें धर्म ही प्राप्त करसकता है ३। और यह सत्यमें स्थित है अर्थात् सबका अधिभूत जो ब्रह्म है उसीमें यह आत्मा प्रकाशताहै ४ । ॥ ४६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे य० प्र०-ब्राह्मण श्रोत्रिय किसकरके होता है ?१। और ब्रह्मको किसकरके प्राप्त होता है ? २ । और दूसरेवाला किस करके होताहै ? ३ । और हे राजन्! बुद्धिमान किस करके होता है ? ४ ॥ ऐसे सुन राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०-वेदके पढनेसे ब्राह्मण श्रोत्रिय होता है १। और तपके करनेसे परब्रह्मको प्राप्त होताहै २ । और धृति करके दूसरेवाला होता है ३ । और

यक्ष उवाच ।

किं ब्राह्मणानां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥ ४९॥

युधिष्ठिर उवाच ।

स्वाध्याय एषां देवत्वं तप एषां सतामिव ।
मरणं मानुषो भावः परिवादोऽसतामिव ॥ ५०॥

यक्ष उवाच ।

किं क्षत्रियाणां देवत्वं कश्च धर्मः सतामिव ।
कश्चैषां मानुषो भावः किमेषामसतामिव ॥५१॥

वृद्धसेवा करके बुद्धिमान होता है ॥४७॥४८॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—ब्राह्मणोंके देवत्व क्या है ? १। और सत्पुरुषोंका धर्म क्या है?२। और इन्होंके मानुषीभाव क्याहै३।तथा असद्भाव क्याहै४॥४९॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—वेदोंका पढना ब्राह्मणोंका देवत्व है१। और तप ही इनका सद्धर्म है २। और मरण ही इनका मानुषीभाव है ३। और दूषण निकालना ही इनके असद्भाव है४॥५०॥फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—क्षत्रियोंके देवत्व क्या है ? १। और इनका

युधिष्ठिर उवाच ।

इष्वस्त्रमेषां देवत्वं यज्ञ एषां सतामिव ।
भयं वै मानुषो भावः परित्यागोऽसतामिव॥५२॥

यक्ष उवाच ।

किमेकं यज्ञियं साम किमेकं यज्ञियं यजुः ।
का चैषां वृणुते यज्ञं कां यज्ञो नातिवर्तते॥ ५३॥

युधिष्ठिर उवाच ।

प्राणो वै यज्ञियं साम मनो वै यज्ञियं यजुः ।

श्रेष्ठ धर्म क्या है ? २ । और इनके मनुष्यभाव क्या है ? ३ । और इनका असत् आचरण क्या है ? ४ ॥ ५१ ॥ राजा युधिष्ठिर कहने लगे । यु० उ०—बाणविद्या ही क्षत्रियोंका परम दैवत है १ । और यज्ञ करना ही इनका श्रेष्ठ आचरण है २ । भय ही मानुषभाव है३। और शरणागतोंका त्यागना ही इनका असत्कर्म है ॥ ५२ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—यज्ञसंबंधी सामवेद क्या है ? १ । और यज्ञसंबंधी यजुर्वेद क्या है ? २ । वेदोंमें यज्ञको कौन अंगीकार करता है ? ३ । और किसको यज्ञ उल्लंघन करके नहीं वर्तते हैं ? ४॥५३॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—एक प्राण ही यज्ञसंबंधी साम है

ऋगेका वृणुते यज्ञं तां यज्ञो नातिवर्तते ॥ ५४॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदावपतां श्रेष्ठं किंस्विन्निर्वपतां वरम् ।
किंस्वित्प्रतिष्ठमानानां किंस्वित्प्रसवतां वरम्५५

युधिष्ठिर उवाच ।

वर्षमावपतां श्रेष्ठं बीजं निर्वपतां वरम् ।
गावः प्रतिष्ठमानानां पुत्रः प्रसवतां वरः ॥ ५६॥

१ । और मन ही यज्ञसंबंधी यज्ञुप है २ । एक ऋचू ही यज्ञको अंगीकार करताहै ३ । और यज्ञ ही उसको उलंघन करके नहीं वर्तते- हैं ॥ ४ ॥ ५४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--देवताओंको तृप्त करनेवालोंको उत्तमफल क्या है ? १ । और पितरोंको तृप्त करनेवा- लोंको उत्तम फल क्या है? २ । प्रतिष्ठा चाहनेवालोंको श्रेष्ठ क्या है? ३ । और संततिवालोंको श्रेष्ठ क्या है ? ४ ॥ ५५ ॥ युधिष्ठिर कहने लगे । यु० उ०--देवताओंको तृप्त करनेवालोंको उत्तम फल वृष्टि है १ । और पितरोंको तृप्त करनेवालोंको बीज अर्थात् क्षेत्र आराम आयु संतति आदि उत्तम फल है २ । यहां प्रतिष्ठा चाहनेवालोंको गौ श्रेष्ठ फल है ३ । और संतति चाहनेवालोंको पुत्र उत्तमफल है ४।

यक्ष उवाच ।

इंद्रियार्थाननुभवन्बुद्धिमाँल्लोकपूजितः ।
संमतः सर्वभूतानामुच्छ्वसन्को न जीवति ॥५७॥

युधिष्ठिर उवाच ।

देवतातिथिभृत्यानां पितॄणामात्मनश्च यः ।
न निर्वपति पंचानामुच्छ्वसन्न स जीवति ॥ ५८ ॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विद्गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात् ।

॥ ५६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—विषयोंको अनुभव करता हुवा बुद्धिमान् कौन है ? १ । लोकपूजित कौन है ? २ । सपूर्ण प्राणियोंको संमत (प्रिय) कौन है ? ३ । और श्वास लेताहुवा भी मृतक कौन है ? ४॥ ५७ ॥ युधिष्टिर कहनेलगे । यु० उ०—देवता अतिथि और भृत्य (नौकर) इनको संतुष्ट करके जो विषयोंको भोगता है वह बुद्धिमान् है १ । जो पित्रीश्वरोंको तृप्त करता है वही लोकपूजित है २ । जो संपूर्ण प्राणियोंको आत्मतुल्य देखता है वही सबका प्रिय है ३ । और जो मनुष्य देवता, अतिथि, भृत्य, पित्रीश्वर और आत्मा इन पांचोंको तृप्त नहीं करताहै वही श्वासलेता हुवा भी मृतक है॥५८॥फिर यक्ष कहनेलगे।य०प्र०—पृथ्वीसे बडा कौन है? १।

किंस्विच्छीघ्रतरं वायोः किंस्विद्बहुतरं तृणात् ५९
युधिष्ठिर उवाच ।
माता गुरुतरा भूमेः खात्पितोच्चतरस्तथा ।
मनः शीघ्रतरं वाताच्चिंता बहुतरी तृणात् ॥६०॥
यक्ष उवाच ।
किंस्वित्सुप्तं न निमिषति किंस्विज्जातं न चोपति ।
कस्यस्विद्धृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते॥६१॥
युधिष्ठिर उवाच ।
मत्स्यः सुप्तो न निमिषत्यंडं जातं न चोपति ।
अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते ॥ ६२ ॥

और आकाशसे ऊँचा कौनहै? २। और वायुसे शीघ्र वेगवाला कौनहै?३। और तृणसे अतितुच्छ क्या है? ४॥५९॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०--माता पृथ्वीसे बडी है १। और पिता आकाशसे ऊँचा है२। मन वायुसे शीघ्रवेगवाला है ३ । और चिंता तृणसे भी तुच्छ है ॥६०॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र--सोयाहुआ कौन नहीं जागता है? १। और जन्माहुवा कौन नहीं चलता है? २ । हृदय किसके नहीं है? ३ । और वेगसे कौन बढता है? ४ ॥ ६१ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०--सोयाहुवा मत्स्य नहीं जागता अर्थात् अपने

यक्ष उवाच ।
किंस्वित्प्रवसतो मित्रं किंस्विन्मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य च किं मित्रं किंस्विन्मित्रं मरिष्यतः ६३
युधिष्ठिर उवाच ।
सार्थः प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः ।
आतुरस्य भिषङ्मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः६४॥

स्थानको प्राप्त होकर अन्यत्र गमन नहीं करता । अथवा मत्स्यसदृश यह जीव ब्रह्मको प्राप्त होकर ज्ञानविद्रामें सोयाहुवा फिर नहीं जागता १ । जन्माहुवा अंड चलता नहीं अथवा यह ब्रह्मांड चलता नहीं २ । और हृदय पत्थरके नहीं होता अथवा शोक मोह आदिका स्थान हृदय योगीके नहीं होता ३ । और वेगसे बढती है ऐसी नदी है अथवा सुषुप्तिअवस्थाको प्राप्त ऐसे योगीकी चित्तरूप नदी है ॥ ६२ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०-प्रवासीका मित्र कौन है ? १ । और गृहस्थका मित्र कौन है ? २ । रोगीका मित्र कौन है ? ३ । और मरनेवालेका मित्र कौन है ? ४ ॥ ६३ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०–संग, प्रवासवालेका मित्र है १ । और स्त्री, गृहस्थका मित्र है २ । औषध, रोगीका मित्र है ३ । और दान

यक्ष उवाच ।

कोऽतिथिः सर्वभूतानां किंस्विद्धर्मं सनातनम् ।
अमृतं किंस्विद्राजेंद्र किंस्वित्सर्वमिदं जगत् ६५॥

युधिष्ठिर उवाच ।

अतिथिः सर्वभूतानामग्निः सोमो गवामृतम् ।
सनातनोऽमृतो धर्मो वायुः सर्वमिदं जगत् ६६॥

यक्ष उवाच ।

किंस्विदेको विचरते जातः को जायते पुनः ।
किंस्विद्धिमस्य भेषज्यं किंस्विदावपनं महत् ६७

मरनेवालेका मित्र है ४ ॥ ६४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०–संपूर्ण प्राणियोंका अतिथि कौन है ? १ । और सनातन धर्म कौन है ? २ । अमृत क्या है ? ३ । और हे राजेन्द्र ! सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त कौन है ?४ ॥ ६५ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०–संपूर्ण प्राणियोंका अतिथि (पूज्य) अग्नि है १ । और गौओंका दुग्ध अमृत है २ । और गौओंकी रक्षा यही सनातन धर्म है ३ । और सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त वायु है ४ ॥ ६६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०–अकेला कौन विचरता है? १ । और जन्मपाकर फिर कौन

युधिष्ठिर उवाच।

सूर्य एको विचरते चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भैषज्यं भूमिरावपनं महत् ॥६८॥

यक्ष उवाच।

किंस्विदेकपदं धर्म्यं किंस्विदेकपदं यशः।
किंस्विदेकपदं स्वर्ग्यं किंस्विदेकपदं सुखम्॥६९॥

युधिष्ठिर उवाच।

दाक्ष्यमेकपदं धर्म्यं दानमेकपदं यशः।
सत्यमेकपदं स्वर्ग्यं शीलमेकपदं सुखम्॥ ७०॥

जन्मता है ? २। और ठंढीकी औषध क्या है ? ३। और बडा क्षेत्र कौन है ? ४ ॥६७॥ युधिष्ठिर कहनेलगे। यु० उ०—सूर्य, अकेला विचरता है १। चन्द्रमा, जन्म पाकर फिर जन्मता है अर्थात् घटता बढता है २ अग्नि, ठंढीकी औषध है ३। और पृथ्वी, सबके बोनेका बडा क्षेत्र है ॥ ६८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०—धर्मका मुख्य स्थान कौन है ? १। और यशका मुख्य स्थान कौन है ? २। स्वर्गका मुख्य स्थान कौनहै? ३। और सुखका मुख्य स्थान कौन है ? ४ ॥ ६९ ॥ युधिष्ठिर

यक्ष उवाच ।

किंस्विदात्मा मनुष्यस्य किंस्विद्दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं किंस्विदस्य किंस्विदस्य परायणम्॥७१॥

युधिष्ठिर उवाच ।

पुत्र आत्मा मनुष्यस्य भार्या दैवकृतः सखा ।
उपजीवनं च पर्जन्यो दानमस्य परायणम्॥७२॥

यक्ष उवाच ।

धन्यानामुत्तमं किंस्विद्धनानां स्यात्किमुत्तमम् ।
लाभानामुत्तमं किंस्यात्सुखानां स्यात्किमुत्तमम्॥

कहनेलगे । यु० उ०—धर्मका मुख्य स्थान दाक्ष्य अर्थात् चातुर्य है१ और यशका मुख्य स्थान दान है २ । स्वर्गका मुख्य स्थान सत्य है३। और सुखका मुख्य स्थान शील है ४ ॥ ७० ॥ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०—मनुष्यका आत्मा कौन है ? १ । और दैवका कियाहुवा मनुष्यका मित्र कौन है ? २ । मनुष्यका उपजीवन कौन है ?३ । और मनुष्यका पालन करनेवाला कौन है ? ४ ॥ ७१ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—मनुष्यका आत्मा पुत्र है १ । और दैवका कियाहुवा मित्र स्त्री है २ । मनुष्यका उपजीवन मेघ है ३ । और मनुष्यका पालन करनेवाला दान है ४ ॥ ७२ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे

युधिष्ठिर उवाच ।

धन्यानामुत्तमं दाक्ष्यं धनानामुत्तमं श्रुतम् ।
लाभानां श्रेय आरोग्यं सुखानां तुष्टिरुत्तमा ७४॥

यक्ष उवाच ।

कश्च धर्मः परो लोके कश्च धर्मः सदाफलः ।
किं नियम्य न शोचंति कैश्च संधिर्न जीर्यते ७५

युधिष्ठिर उवाच ।

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्रयीधर्मः सदाफलः ।
मनो यम्य न शोचंति संधिः सद्भिर्न जीर्यते७६॥

य० प्र०—धन्योंमें उत्तम धन्य कौन है ? १ । और धनोंमें उत्तम धन कौन है ? २ । लाभोंमे उत्तम लाभ कौन है ? ३ और सुखोंमें उत्तम सुख कौन है ? ४ ॥ ७३ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—धन्योमें उत्तम धन्य वह है जिसके परोपकाररूप चातुर्य है १ । धनोंमें उत्तम धन विद्या है २ । लाभोंमे उत्तम लाभ आरोग्य है ३। सुखोंमें उत्तम सुख सतोष है ४ ॥ ७४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—लोकमें श्रेष्ठ धर्म कौन है ? १ । और सदाफल धर्म कौन है ? २ । किसको वश करके मनुष्य शोच नहीं करता है ? ३। और किनके साथ करीहुई मैत्री छूटती नहीं है ? ४ ॥ ७५ ॥ युधिष्ठिर

यक्ष उवाच ।

किं नु हित्वा प्रियो भवति किं नु हित्वा न शोचति।
किं नु हित्वार्थवान् भवति किं नु हित्वा सुखीभवेत्

युधिष्ठिर उवाच ।

मानं हित्वा प्रियो भवति क्रोधं हित्वा न शोचति
कामं हित्वार्थवान्भवति लोभंहित्वासुखीभवेत् ७८

यक्ष उवाच ।

किमर्थं ब्राह्मणे दानं किमर्थं नटनर्तके ।

कहनेलगे । यु० उ०—अभयदान अर्थात् संन्यास लोकमें श्रेष्ठ धर्म है १ । और सदा फल देनेवाला धर्म यज्ञ है २ । मनको वश करके मनुष्य शोचते नहीं हैं ४ । सज्जनोंकी मैत्री छूटती नहीं है ॥७६॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—किसके छोडनेसे मनुष्य प्रिय होता है ? १ । और किसके छोडनेसे मनुष्य शोच नहीं करता है ? २ । किसके छोडनेसे मनुष्य अर्थ (धन) वान-होता है ? ३ । और किसके छोडनेसे मनुष्य सुखी होताहै ? ४ ॥ ७७ ॥ मानको छोडकर मनुष्य प्रिय होता है ? १ । और क्रोधको छोडकर मनुष्य शोच नहीं करता है ? २ । काम (इच्छा) को छोडकर मनुष्य अर्थवान होता है ३ । और लोभको छोडकर मनुष्य सुखी होता है ॥ ७८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगा । य० प्र०-ब्राह्मणके लिये दान क्यों दियाजाता

किमर्थं चैव भृत्येषु किमर्थं चैव राजसु ॥ ७९॥

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्मार्थं ब्राह्मणे दानं यशोर्थं नटनर्तके ।
भृत्येषु भरणार्थं वैभवार्थं चैव राजसु ॥ ८० ॥

यक्ष उवाच ।

केनस्विदावृतो लोकः केनस्विन्न प्रकाशते ।
केन त्यजति मित्राणि केन स्वर्गं न गच्छति८१॥

है ? १। और नट नर्तकके लिये क्यों दियाजाता है? २। नौकरोंको किस लिये दियाजाता है ? ३। और राजाओंको किस लिये दियाजाता है ? ४ ॥ ७९ ॥ राजायुधिष्ठिर कहनेलगे । यु०--उ०--ब्राह्मणोंको धर्मके लिये दान दियाजाता है १ । और नट नर्तकोंको यशके लिये दान दियाजाता है? २। नौकरोंको पोषणके लिये दान दियाजाता है३। और राजाओंको अपने प्रतापके उदयके लिये दान दियाजाताहै ४ ॥ ८० ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--मनुष्य किससे आच्छादित रहताहै ? १। और मनुष्य किससे प्रकाश नहीं करताहै ? २। मित्रोंको किस कारणसे त्यागदेता है ?३। और स्वर्गको

युधिष्ठिर उवाच ।
अज्ञानेनावृतो लोकस्तमसा न प्रकाशते ।
लोभात्त्यजति मित्राणि संगात्स्वर्गं न गच्छति८२
यक्ष उवाच ।
मृतः कथं स्यात्पुरुषः कथं राष्ट्रं मृतं भवेत् ।
श्राद्धं मृतं कथं वा स्यात्कथं यज्ञो मृतो भवेत् ।
युधिष्ठिर उवाच ।
मृतो दरिद्रः पुरुषो मृतं राष्ट्रमराजकम् ।

किस कारणसे नहीं जासकता है ? ४ ॥ ८१ ॥ युधिष्ठिर कहने लगे यु० उ०--मनुष्य अज्ञानसे आच्छादित (ढकाहुवा) रहताहै १। और तमोगुणसे प्रकाश नहीं करताहै २। मनुष्य लोभसे मित्रोंको त्याग देता है ३। और कुसंगसे मनुष्य स्वर्गको नहीं जासकता है ४ ॥ ८२ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०--मृतकके समान पुरुष कौन होताहै ? १। और मृतकके समान देश कौन होताहै ? २। मृतक अर्थात् नहीं कियासा श्राद्ध कौन होता है ? ३ । और मृतक अर्थात् नहीं कियासा यज्ञ कौन होताहै ? ४ ॥ ८३ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०--दरिद्र पुरुष मृतकके समान होताहै १।

मृतमश्रोत्रियं श्राद्धं मृतो यज्ञस्त्वदक्षिणः॥८४॥
यक्ष उवाच।
का दिक्किमुदकं प्रोक्तं किमन्नं किं च वै विषम्।
श्राद्धस्य कालमाख्याहि ततः पिब हरस्व च८५॥
युधिष्ठिर उवाच।
संतो दिग्जलमाकाशं गौरन्नं प्रार्थना विषम्।
श्राद्धस्य ब्राह्मणः कालः कथं वा यक्ष मन्यसे ८६॥

और राजाके विना देश मृतकके समान होताहै २। वेदपाठी ब्राह्मणके विना श्राद्ध मृतकके समान होता है ? ३ और दक्षिणाके विना यज्ञ मृतकके समान होता है ४ ॥ ८४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०-दिशाओंमें उत्तम दिशा कौन है ? १। और जलोंमें उत्तम जल कौन है ? २। अन्नोंमें उत्तम अन्न कौन है ? ३। और विषोंमें उग्र विष कौन है ? ४ । और श्राद्धका उत्तम काल कौन है ? ५। हे राजन्! इन मेरे प्रश्नोंका उत्तर करके जलपान करो और ले भी जाओ ॥ ८५ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे। यु० उ०-संतजन उत्तम दिक् अर्थात् शुभमार्ग बतानेवाले हैं १। उत्तम जल मेघका है २। संपूर्णोंका अन्न जीवनरूप गौ है ३। याचना उग्र विष है ४।

यक्ष उवाच।

तपः किं लक्षणं प्रोक्तं को दमश्च प्रकीर्तितः।
क्षमा च का परा प्रोक्ता का च ह्रीः परिकीर्तिता ८७

युधिष्ठिर उवाच।

तपः स्वधर्मवर्तित्वं मनसो दमनं दमः।
क्षमा द्वंद्वसहिष्णुत्वं ह्रीरकार्यनिवर्तनम् ॥ ८८॥

यक्ष उवाच।

किं ज्ञानं प्रोच्यते राजन्कः शमश्च प्रकीर्तितः।
दया च का परा प्रोक्ता किं चार्जवमुदाहृतम् ॥८९॥

श्राद्धका काल वह है कि जब उत्तम ब्राह्मण मिले ९। हे यक्ष मैं तो ऐसा मानता हूं और आप कैसा मानते हो वह कहो ॥ ८६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे य० प्र०--तप कौन कहाता है ? १। और दम कौन कहाता है ? २। क्षमा कौन कहाती है ? ३। और लज्जा कौन कहाती है ? ४॥ ८७ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे। यु० उ०--अपने धर्ममें वर्तना ही तप है १। और मनका विषयोंसे रोकना ही दम है २। शीत उष्ण आदि द्वंद्वोंका सहना ही क्षमा है ३। और नहीं करने योग्य कार्यका न करना ही लज्जा है ४ ॥ ८८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे य० प्र०--

युधिष्ठिर उवाच ।

ज्ञानं तत्त्वार्थसंबोधः शमश्चित्तप्रशांतता ।
दया सर्वसुखैषित्वमार्जवं समचित्तता ॥ ९० ॥

यक्ष उवाच ।

कः शत्रुर्दुर्जयः पुंसां कश्च व्याधिरनंतकः ।
कीदृशश्च स्मृतः साधुरसाधुः कीदृशः स्मृतः ९१॥

युधिष्ठिर उवाच ।

क्रोधः सुदुर्जयः शत्रुर्लोभो व्याधिरनंतकः ।
सर्वभूतहितः साधुरसाधुर्निर्दयः स्मृतः ॥ ९२ ॥

हे राजन् ! ज्ञान कौन कहा है ? १। और शम कौन कहा है ? २। उत्तम दया कौन कही है ? ३। और आर्जव (कोमलता) कौन कही है ? ४ ॥ ८९ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०-ज्ञानोंमें उत्तम ज्ञान तत्त्वज्ञान है १ । और चित्तकी शांति ही शम है २ । सपूर्णोंके सुखकी इच्छा करना दया है ३। और समचित्तता अर्थात् समदर्शीपना ही आर्जव कोमलता है ॥९०॥ फिर, यक्ष कहनेलगे य० प्र०-- पुरुषोंका बडा शत्रु कौन है ? १। और बडी व्याधि कौन है ? २। साधु कौन कहा है? ३। और असाधु कौन कहा है ?४ ॥ ९१ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०--पुरुषोंका क्रोध ही बडा

यक्ष उवाच।

को मोहः प्रोच्यते राजन् कश्च मानः प्रकीर्तितः।
किमालस्यं च विज्ञेयं कश्च शोकः प्रकीर्तितः ९३॥

युधिष्ठिर उवाच।

मोहो हि धर्ममूढत्वं मानस्त्वात्माभिमानिता।
धर्मनिष्क्रियतालस्यं शोकस्त्वज्ञानमुच्यते ९४॥

यक्ष उवाच।

किं स्थैर्यमृषिभिः प्रोक्तं किं च धैर्यमुदाहृतम्।

शत्रु है १। और लोभ ही बडी व्याधि है २। जो सपूर्ण प्राणियोंका हितकारी है वही साधु है ३। जो दयारहित है वही असाधु है ४ ॥ ९२॥ यक्ष कहनेलगे। य० प्र०--हे राजन्! मोह कौन कहा है? १। और मान कौन कहा है? २। आलस्य कौन कहा है? ३। और शोक कौन कहा है ४ ॥ ९३ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे। यु० उ०-- धर्मको नहीं जानना ही मोह है १। और अपनेको सबसे श्रेष्ठ जानना ही मान है २। धर्मका आचरण नहीं करना ही आलस्य है ३। और अज्ञान ही शोक है ४ ॥ ९४ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०-- ऋषियोंकी कहीहुई स्थिरता कौन है? १। और उनकी कहीहुई

स्नानं च किं परं प्रोक्तं दानं च किमिहोच्यते॥९५॥

युधिष्ठिर उवाच ।

स्वधर्मे स्थिरता स्थैर्यं धैर्यमिंद्रियनिग्रहः ।
स्नानं मनोमलत्यागो दानं वै भूतरक्षणम् ॥९६॥

यक्ष उवाच ।

कः पंडितः पुमाञ्ज्ञेयो नास्तिकः कश्च उच्यते ।
को मूर्खः कश्चकामः स्यात्को मत्सरइति स्मृतः९७

युधिष्ठिर उवाच ।

धर्मज्ञः पंडितो ज्ञेयो नास्तिको मूर्ख उच्यते ।
कामः संसारहेतुश्च हृत्तापो मत्सरः स्मृतः ॥९८॥

धीरता कौनसी है ?,२। स्नानोंमें उत्तम स्नान कौन कहा है ? ३। और दानोंमें उत्तम दान कौन कहा, है ? ४ ॥ ९५ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । यु०उ०--अपने धर्ममें स्थिरताही स्थिरता है१। इंद्रियोंका रोकना ही धीरता है २। मनके मलोंका त्याग करना ही उत्तम स्नान है ३। और प्राणियोंकी रक्षा करना ही उत्तम दान है ४ ॥ ९६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०-- पंडित पुरुष कौन जानना ? १। नास्तिक कौन जानना ? २। और मूर्ख कौन जानना ? ३। काम कौन कहाहै और मत्सर कौन कहाहै ? ४॥९७॥ युधिष्ठिर

यक्ष उवाच।

कोऽहंकार इति प्रोक्तः कश्च दंभः प्रकीर्तितः।
किं तद्दैवं परं प्रोक्तं किं तत्पैशुन्यमुच्यते ॥ ९९॥

युधिष्ठिर उवाच।

महाज्ञानमहंकारो दंभो धर्मो ध्वजोच्छ्रयः।
दैवं दानफलं प्रोक्तं पैशुन्यं परदूषणम् ॥ १००॥

यक्ष उवाच।

धर्मश्चार्थश्च कामश्च परस्परविरोधिनः।

कहनेलगे। धर्मका जाननेवाला ही पंडित कहा है १। और मूर्ख ही नास्तिक कहा है। २ संसारकी वासना न मिटना ही काम है ३। और दूसरेकी संपत्को देखकर हृदयमे ताप होना ही मत्सर है ४॥९८ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०-अहंकार कौन कहा है ? १। और दंभ कौन कहा है ? २। भाग्य कौन कहा है ? ३। और पिशुनता (चुगली) कौन कही है ? ४ ॥ ९९ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे यु० उ० महाअज्ञान ही अहंकार है १। और संसारमें पुजानेके लिये ही धर्म करना दंभ है २। पूर्वजन्ममें कियेहुए दानका फल ही दैव है ३। और दूसरोंके दूषणोंका कहना ही चुगली है ४ ॥ १०० ॥ फिर यक्ष कहनेलगे। य० प्र०-हे राजन् ! धर्म, अर्थ, और काम

एषां नित्यविरुद्धानां कथमेकत्र संगमः॥१०१॥
युधिष्ठिर उवाच।
यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि संगमः॥१०२॥
यक्ष उवाच।
अक्षयो नरकः केन प्राप्यते भरतर्षभ।
एतन्मे पृच्छतः प्रश्नं तच्छीघ्रं वक्तुमर्हसि१०३॥
युधिष्ठिर उवाच।
ब्राह्मणं स्वयमाहूय याचमानमकिंचनम्।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् १०४

ये परस्पर विरोधी हैं, इन नित्यविरोधियोंका एक जगह संगम कैसे होसकता है ? ॥ १०१॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे। यु० उ०—जब कि धर्म और स्त्री आपसमें वशमे होजाते हैं तब धर्म, अर्थ, और काम इन तीनोंका ही संगम होजाता है। ॥ १०२ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे हे भरतर्षभ हे युधिष्ठिर ! कौनसे कर्मके करनेसे मनुष्यका अक्षय नरकवास होता है ? पूछतेहुए के मेरे इस प्रश्नको शीघ्र कहो ॥ १०३ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे। कि हे यक्ष ! याचना

वेदेषु धर्मशास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु ।
देवेषु पितृधर्मेषु सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् ॥ १०५ ॥
विद्यमाने धने लोभाद्दानभोगविवर्जितः ।
पश्चान्नास्तीति यो ब्रूयात्सोऽक्षयं नरकं व्रजेत् १०६

यक्ष उवाच ।

राजन्कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा ।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रूह्येतत्सुनिश्चितम् १०७॥

करतेहुए अकिंचन ब्राह्मणको स्वय ही प्रथम देनेको बुलावे और पश्चात् नटजाय वह अक्षय नरकमें प्राप्त होता है ॥ १०४ ॥ और वेद, धर्मशास्त्र, ब्राह्मण, देवता और पितृधर्म इनमें जो मिथ्याबुद्धि करता है वह अक्षयनरकमें प्राप्त होता है ॥ १०५ ॥ धन रहनेपर भी जो मनुष्य न तो दान देता है और न आप भोगता है और 'दानदूंगा' ऐसा कहकर पीछे नटजाता है वह अक्षयनरकमें प्राप्त होता है ॥ १०६ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । हे राजन् ! ब्राह्मणत्व, कुलसे होता है ? अथवा आचरणसे होता है ? तथा वेदपढनेसे होता है ? अथवा श्रुतसे होता है ? किससे ब्राह्मणत्व होता है यह मेरे प्रति

युधिष्ठिर उवाच।

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥१०८॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥१०९॥
पठकाः पाठकाश्चैव ये चान्ये शास्त्रचिंतकाः।
सर्वे व्यसनिनो मूर्खा यः क्रियावान्स पंडितः॥११०
चतुर्वेदोऽपि दुर्वृत्तः स शूद्रादतिरिच्यते।

निश्चित कहो ॥ १०७ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे। हे यक्ष हे तात! सुनो ब्राह्मणत्वमें न कुल कारण है और न वेदपाठ और न श्रुत कारण है किंतु ब्राह्मणत्वमें एक स्वधर्माचरण ही कारण है इसमें संदेह नहीं ॥ १०८ ॥ पुरुषने स्वधर्माचरणकी रक्षा करनी और ब्राह्मणने विशेष करके ही करनी क्यों कि जिसका वृत्त क्षीण नहीं है वह क्षीण नहीं है और जिसका वृत्त क्षीण है वह क्षीण ही है ॥ १०९ ॥ हे यक्ष! जो ब्राह्मण पढनेवाले हैं जो पढानेवाले हैं और जो शास्त्रके चिंतक हैं वे क्रियारहित होनेसे संपूर्ण व्यसनी और मूर्ख हैं और जो क्रियावान् है वह पंडित है ॥ ११० ॥ चारों वेदोंका पढनेवाला भी

योऽग्निहोत्रपरो दांतः स ब्राह्मण इति स्मृतः॥११

यक्ष उवाच ।

प्रियवचनवादी किं लभते,
विमृशितकार्यकरः किं लभते ।
बहुमित्रकरः किं लभते,
धर्मे रतः किं लभते कथय ॥ ११२ ॥

युधिष्ठिर उवाच ।

प्रियवचनवादी प्रियो भवति,
विमृशितकार्यकरोऽधिकं जयति ।

ब्राह्मण यदि दुष्ट आचरणवाला है तो वह शूद्रसे भी अधिक निकृष्ट है, क्यों कि जिसमें जो अग्निहोत्र करता है और इंद्रियोंका दमन करता है वही ब्राह्मण कहा है ॥ १११ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र० हे राजन् ! यह मेरे प्रश्न कहो कि प्रियवचन बोलनेवालेको क्या प्राप्त होता है ? १ । और विचार करके कार्य करनेवालेको क्या प्राप्त होता है ! २ । बहुत मित्र करनेवालेको क्या प्राप्त होता है ? ३। और धर्ममें तत्पर रहनेवालेको क्या प्राप्त होता है ? ४ ॥ ११२ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । यु० उ०—प्रियवचन बोलनेवाला संपूर्ण जनोंको

बहुमित्रकरः सुखं वसते,
यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥ ११३ ॥

यक्ष उवाच ।

को मोदते किमाश्चर्यं कः पंथाः का च वार्तिका।
वद मे चतुरः प्रश्नान्मृता जीवंतु बांधवाः ११४॥

युधिष्ठिर उवाच ।

पंचमेऽहनि षष्ठे वा शाकं पचति स्वे गृहे ।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥११५॥

प्रिय होता है १ । और विचारकर काम करनेवालेका अधिक जय होता है २ । बहुत मित्र करनेवाला सुखपूर्वक रहता है ३ । और धर्ममें तत्पर मनुष्य उत्तमगतिको प्राप्त होता है ४ ॥ ११३ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । य० प्र०—प्रसन्न कौन रहताहै ? १ । और आश्चर्य क्या है ! २ । मार्ग कौन है ? ३ । और वार्ता (वर्तमान) कौन है ४। हे राजन् जो आप इन मेरे प्रश्नोंका उत्तर करदोगे तो तुम्हारे चारों भ्राता जिय उठेंगे ॥ ११४ ॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे । हे वारिचर ! जो मनुष्य अपने घरमें पांचवें अथवा छठे दिन शाकपात खाता है परंतु वह ऋणी नहीं है और प्रवासी अर्थात् परदेशवासी

मासर्तुदर्वीपरिवट्टनेन,
भूतानि कालः पचतीति वार्ता ॥ ११८॥
यक्ष उवाच ।
व्याख्याता मे त्वया प्रश्ना याथातथ्यं परंतप ।
पुरुषं त्विदानींव्याख्याहि यश्च सर्वधनीनरः ११९
युधिष्ठिर उवाच ।
दिवं स्पृशति भूमिं च शब्दः पुण्येन कर्मणा ।
यावत्स शब्दो भवति तावत्पुरुष उच्यते १२०॥
तुल्ये प्रियाप्रिये यस्य सुखदुःखे तथैव च ।

काल प्रभु प्राणियोंको इसमें पकाता है और मास ऋतुरूप कड़छीमें हिलाता है यही वार्ता अर्थात् वर्तमान है ॥ ११८ ॥ फिर यक्ष कहनेलगे । हे परंतप ! (हे युधिष्ठिर !) मेरे प्रश्न तुमने यथार्थतासे कहदिये परंतु अब उस पुरुषको कहो कि जो सर्वधनी कहाता है ॥ ११९ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । पुण्यकर्म करके जिसकी कीर्त्तिका शब्द जबतक आकाश और भूमिमें व्याप्त रहता है तबतक वह पुरुष मानो जीता है और वही सर्वधनी भी कहाता है ॥ १२० ॥ जिसके शत्रु मित्र तुल्य हैं और सुख दुःख तुल्य है और भूत भविष्यन्

अतीतानागते चोभे स वै सर्वधनी नरः॥१२१॥

यक्ष उवाच ।

व्याख्यातः पुरुषो राजन्यश्च सर्वधनी नरः ।
तस्मात्त्वमेकं भ्रातॄणां यमिच्छसि स जीवतु१२२

युधिष्ठिर उवाच ।

श्यामो य एव रक्ताक्षो बृहच्छाल इवोत्थितः ।
व्यूढोरस्को महाबाहुर्नकुलो यक्ष जीवतु॥१२३॥

यक्ष उवाच ।

प्रियस्ते भीमसेनोऽयमर्जुनो वः परायणम् ।

सब जिसके तुल्य हैं वह मनुष्य सर्वधनी कहा है॥ १२१ ॥ यक्ष कहनेलगे । तुमने सर्वधनी मनुष्य भी यथार्थ कहदिया इसलिये मैं प्रसन्न हुवा कहताहूं अब तुम जिस एकको चाहो वह तुम्हारा भ्राता जीवित होजावे ॥ १२२ ॥ युधिष्ठिर कहनेलगे । हे यक्ष ! जो आप प्रसन्नहुए ऐसा कहते हो तो, जो यह श्यामवर्ण रक्त नेत्रोंवाला बडे शालके वृक्षके समान ऊँचा वडी छातीवाला और लंबी भुजाओंवाला मेरा भ्राता नकुल है वह जीवित होजाओ ॥ १२३ ॥ ऐसे सुन यक्ष कहनेलगे । हे राजन् !यह भीमसेन तुम्हारा प्रिय है और यह अर्जुन

यथा कुन्ती यथा माद्री विशेषो नास्ति मे तयोः।
मातृभ्यां सममिच्छामि नकुलो यक्ष जीवतु१३२

यक्ष उवाच।

यस्य तेऽर्थाच्च कामाच्च आनृशंस्यं परं मतम्।
तस्मात्ते भ्रातरः सर्वे जीवंतु भरतर्षभ॥ १३३॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेय-
पर्वणि यक्षप्रश्ने त्रयोदशाधिकत्रिशत-
तमोऽध्यायः॥ ३१३॥

हे यक्ष ! मुझको जैसी कुंती है वैसी ही माद्री है मेरे दोनोंमें भेदभाव नहीं है इसलिये दोनों माताओंको सम रखनेकी इच्छासे मैं यह कहता हूँ कि नकुल जीवित होजाओ॥ १३२॥ यक्ष कहनेलगे। हे भरतर्षभ ! (युधिष्ठिर !) जिससे अर्थ और कामसे तुम्हारे अविषमता परम समत है इसलिये तुम्हारे संपूर्ण भ्राता जीवित होजाओ॥ १३३॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि यक्षप्रश्ने भाषाटीकायां त्रयोदशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१३॥[१]

वैशंपायन उवाच।

ततस्ते यक्षवचनादुदतिष्ठन्त पांडवाः।
क्षुत्पिपासे च सर्वेषां क्षणेन व्यपगच्छताम्॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच।

सरस्येकेन पादेन तिष्ठंतमपराजितम्।
पृच्छामि को भवान्देवो न मे यक्षो मतो भवान्२
वसूनां वा भवानेको रुद्राणामथवा भवान्।
अथवा मरुतां श्रेष्ठो वज्री वा त्रिदशेश्वरः॥ ३॥

अब इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायन ऋषि राजा जनमेजयसे कहनेलगे। कि हे जनमेजय! तिसके अनंतर यक्षके वचनसे वे सम्पूर्ण पांडव उठकर खडे होगये और क्षणमात्रमें सबोंकी भूख प्यास दूर होगई॥ १॥ राजा युधिष्ठिर कहनेलगे। कि इस सरोवरमें एक पांवसे स्थित होतेहुए आप कौन अजित देव हो मैं आपसे यह पूछता हूं। क्यो कि जिससे मैंने यह निश्चय किया है कि आप यक्ष नहीं हो॥ २॥ आठ वसुवोंमेंसे कोई एक वसु हो अथवा ग्यारह रुद्रोंमेंसे कोई एक रुद्र हो, अथवा उनचास वायुवोंमेंसे कोई एक

मम हि भ्रातर इमे सहस्रशतयोधिनः ।
तं योधं न प्रपश्यामि येन सर्वे निपातिताः॥४॥
सुखं प्रतिप्रबुद्धानामिंद्रियाण्युपलक्षये ।
स भवान्सुहृदोऽस्माकमथवा नः पिता भवान्॥५॥

यक्ष उवाच ।

अहं ते जनकस्तात धर्मो मृदुपराक्रम ।
त्वां दिदृक्षुरनुप्राप्तो विद्धि मां भरतर्षभ ॥ ६ ॥

वायु हो अथवा देवताओंके राजा इंद्रदेव हो ॥३॥ क्यों कि जिससे ये मेरे भ्राता एक एक सैकड़ों और हजारहोंके साथ युद्ध करनेवाले हैं और ऐसे एक योद्धाको मैं किसीको नहीं देखता हूं कि जो इनको युद्धमें गिरादे इसलिये आप कोई उत्तम देव हैं कि जिससे मेरे संपूर्ण भ्राता गिरादिये ॥ ४ ॥ और सुखपूर्वक सो कर उठेहुओंकी तरह जो इनकी इंद्रियोंको मैं देखता हूं इसलिये यह भी जानता हूं कि आप हमारे कोई सुहृद् हो अथवा पिता (धर्म) ही हो ॥ ५ ॥ ऐसे सुन यक्ष कहनेलगे । हे मृदुपराक्रम ! हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पुत्र ! (युधिष्ठिर !) मैं तुम्हारा पिता धर्म हूं और तुम्हें देखनेकेलिये

यशः सत्यं दमः शौचमार्जवं ह्रीरचापलम् ।
दानं तपो ब्रह्मचर्यमित्येतास्तनवो मम ॥ ७ ॥
अहिंसा समता शांतिस्तपः शौचममत्सरः ।
द्वाराण्येतानि मे विद्धि प्रियो ह्यसि सदा मम८॥
दिष्ट्या पंचसु रक्तोऽसि दिष्ट्या ते षट्पदी जिता।
द्वे पूर्वे मध्यमे द्वे च द्वे चांते सांपरायिके ॥ ९ ॥

आया हूँ ऐसा जानो ॥ ६ ॥ और हे पुत्र ! यश, सत्य, इंद्रियोंका जीतना, शौच (शुद्धि), कोमलता, लज्जा, अचपलता, दान, तप और ब्रह्मचर्य ये दश मेरे शरीर हैं ॥ ७ ॥ हे राजन् ! जिससे तुम मुझको सदा प्रिय हो इसलिये मैं तुमको धर्मके द्वारा कहता हूँ अहिंसा, समता, शान्ति, तप, शौच और अमत्सरता अर्थात् इन्हींके द्वारा मुझ धर्मकी प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥ हे राजन् ! आप पांचोंमें शम, दम, जितेंद्रियता, शीतोष्णकी सहनशीलता, उपराम, और समाधिस्थिततामें तत्पर हो यह बहुत अच्छा है ! और आदि अवस्थाकी क्षुधा और तृषा मध्य अवस्थाका शोक और मोह, अंत अवस्थाकी वृद्धावस्था और मृत्यु यह षट्पदी आपने

धर्मोऽहमिति भद्रं ते जिज्ञासुस्त्वामिहागतः ।
आनृशंस्येन तुष्टोऽस्मि वरं दास्यामि तेऽनघ १०
वरं वृणीष्व राजेंद्र दाता ह्यस्मि तवानघ ।
ये हि मे पुरुषा भक्ता न तेषामस्ति दुर्गतिः ११॥

युधिष्ठिर उवाच ।

अरणीसहितं यस्य मृगो ह्यादाय गच्छति ।
तस्याग्नयो न लुप्येरन्प्रथमोऽस्तु वरो मम॥१२॥

यक्ष उवाच ।

अरणीसहितं ह्यस्य ब्राह्मणस्य हृतं मया ।

जीत ली है यह भी बहुत अच्छा है ॥ ९ ॥ हे अनघ ! (युधिष्ठिर !) तुम्हारा कल्याण हो मैं धर्म हूँ और तुम धर्मिष्ठकी परीक्षा लेनेको आया हूँ इसलिये तुम्हारी समता और दयालुता करके प्रसन्नहुवा मैं कहता हूँ कि तुमको मैं वर दूँगा ॥ १० ॥ हे राजेन्द्र ! तुम वर मांगो मैं दूँगा । हे अनघ ! जो पुरुष मेरे भक्त हैं उनकी दुर्गति कभी नहीं होती है ॥ ११ ॥ ऐसे सुन युधिष्ठिर कहनेलगे । जिस ब्राह्मणका, अरणीसहित अग्नि को लेकर मृग चलागया उसका अग्निहोत्र लुप्त न हो प्रथम वर तो मेरा यही है ॥ १२ ॥ यक्ष कहने

भूयश्चाश्वासयामास कौंतेयं सत्यविक्रमम्॥१६॥
यद्यपि स्वेन रूपेण चारिष्यथ महीमिमाम् ।
न वो विज्ञास्यते कश्चित्त्रिषु लोकेषु भारत१७॥
वर्षं त्रयोदशमिदं मत्प्रसादात्कुरूद्वहाः ।
विराटनगरे गूढा अविज्ञाताश्चरिष्यथ ॥ १८ ॥
यद्वः संकल्पितं रूपं मनसा यस्य यादृशम् ।
तादृशं तादृशं सर्वे छन्दतो धारयिष्यथ ॥ १९॥

हे राजन् ! जनमेजय ! ऐसे राजा युधिष्ठिरके वचन सुनकर भगवान् धर्म कहनेलगे 'मैं यह भी वर तुम्हें देता हूँ' ऐसा कहकर फिर सत्यविक्रम कुंतीके पुत्र राजा युधिष्ठिरको अनेक प्रकारसे आश्वासना करातेभये और कहतेभये ॥ १६ ॥ हे भारत ! (युधिष्ठिर !) यद्यपि तुम अपने इनही रूपोंसे त्रिलोकीमें पृथ्वीपर चाहो जहां विचरो तुम्हें कोई नहीं जानसकेगा ॥ १७ ॥ तथाऽपि हे कुरूद्वह ! इस तेरहवें वर्षमें तुम गुप्तहुए विराटनगरमें बसो मेरे प्रसादसे वहां तुमको कोई नहीं जानसकेगा ॥ १८ ॥ और तुमको जैसा जैसा रूप वांछित हो वैसा वैसा धारण करतेहुए तुम संपूर्ण यथेच्छ

अरणीसहितं चेदं ब्राह्मणाय प्रयच्छत।
जिज्ञासार्थं मया ह्येतदाहृतं मृगरूपिणा ॥ २० ॥
प्रवृणीष्वापरं सौम्य वरमिष्टं ददानि ते।
न तृप्यामि नरश्रेष्ठ प्रयच्छन्वै वरांस्तथा॥२१॥
तृतीयं गृह्यतां पुत्र वरमप्रतिमं महत्।
त्वं हि मत्प्रभवो राजन् विदुरश्च ममांशजः ॥२२

युधिष्ठिर उवाच।

देवदेवो मया दृष्टो भवान्साक्षात्सनातनः।

विचरोगे ॥ १९ ॥ और अरणीसहित यह काष्ठ ब्राह्मणको देदो मैं मृगरूप धारण करके तुम्हारी परीक्षाके लिये लायाथा ॥ २० ॥ हे नरश्रेष्ठ ! तुम्हारेको वर देताहुवा मैं तृप्त नहीं होता हूँ इसलिये हे सौम्य ! तुम वांछित और माँगो ॥ २१ ॥ हे पुत्र ! और तीसरा कोई अनुपम और बडा वर मुझसे मांगो क्यों कि जिससे हे राजन् ! तुम मुझसे उत्पन्नहुए हो और विदुर भी मेरे अंशसे उत्पन्न हुए हैं ॥ २२ ॥ ऐसे सुन राजा युधिष्ठिर कहनेलगे। कि हे भगवन् ! आज मेरे धन्य भाग्य हैं जो कि देवदेव और सनातन आपके दर्शन-

यं ददासि वरं तुष्टस्तं ग्रहीष्याम्यहं पितः॥२३॥
जयेयं लोभमोहौ च क्रोधं चाहं सदा विभो।
दाने तपसि सत्ये च मनो मे सततं भवेत् २४॥

धर्म उवाच।

उपपन्नो गुणैरेतैः स्वभावेनासि पांडव।
भवान्धर्मः पुनश्चैव यथोक्तं ते भविष्यति॥२५॥

वैशंपायन उवाच।

इत्युक्त्वांतर्दधे धर्मो भगवाँल्लोकभावनः।
समेताः पांडवाश्चैव सुखसुप्ता मनस्विनः॥ २६॥

हुए इसलिये हे पितः! आप प्रसन्न हुए जो वरदेंगे वही मैं ग्रहण करूंगा॥ २३॥ तथाऽपि हे विभो! मैं तीसरा यही वर मांगता हूँ कि लोभ, मोह, और क्रोध इनको सपूर्ण कालमें जीतूँ। और दान, तप तथा सत्य इनमें मेरा मन निरंतर बनारहे॥ २४॥ ऐसे सुन धर्म कहनेलगे। हे पांडव! इन गुणोंसे तो तुम स्वभावसे ही युक्त हो तथापि मैं भी यह वर तुम्हें देता हूँ कि ये गुण तुममें निरंतर बास करेंगे॥ २५॥ इतनी कथा कहकर फिर वैशंपायन ऋषि राजा जनमेजयसे कहनेलगे। कि हे राजन्! लोकप्रतिपालक

उपेत्य चाश्रमं वीराः सर्व एव गतक्लमाः।
आरणेयं ददुस्तस्मै ब्राह्मणाय तपस्विने ॥२७॥

इदं समुत्थानसमागतं मह-
त्पितुश्च पुत्रस्य च कीर्तिवर्धनम्।
पठन्नरः स्याद्विजितेंद्रियो वशी,
सपुत्रपौत्रः शतवर्षभाग्भवेत् ॥ २८ ॥
न चाप्यधर्मे न सुहृद्भिभेदने,
परस्वहारे परदारमर्शने।

भगवान् धर्म राजा युधिष्ठिरको ऐसे वर देकर अंतर्धान होगये और मनस्वी शूरवीर संपूर्ण पांडव सुखपूर्वक सोतेहुओंके समान उठकर इकट्ठे हो अपने आश्रमको आये और श्रमरहित हुए उस तपस्वी ब्राह्मणको यह अरणी देतेभये ॥ २६ ॥ २७ ॥ यह नकुलआदिकोंका मूर्छा होकर उठना और धर्म युधिष्ठिरका प्रश्नोत्तर करनारूप जो आख्यान है सो मनुष्योंके पठन श्रवणसे पितापुत्रोंकी कीर्तिका बढानेवाला है और जो मनुष्य इसका नित्य पाठ करताहै वह जितेंद्रिय स्वाधीन और पुत्र पौत्रोंसे युक्तहुवा सौ वर्ष पर्यंत सुखको भोगता है ॥ २८ ॥ जो मनुष्य इस श्रेष्ठ आख्यानका सदा पाठ

कदर्यभावे न रमेन्मनः सदा,
नृणां सदाख्यानमिदं विजानताम् ॥२९॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाधिकत्रिशततमोऽध्यायः॥३१४॥

करते हैं उनका मन; दूसरोंका धन हरना दूसरोंकी स्त्रियोंसे रमण करना कंजूसपना इनमें कभी रमण नहीं करता है अर्थात् कभी नहीं जाता है ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आरण्यके पर्वणि आरणेयपर्वणि भाषाटीकायां नकुलादिजीवनादिवरप्राप्तौ चतुर्दशाऽधिकत्रिशततमोऽध्यायः ॥ ३१४ ॥

दोहा-यक्ष धर्म प्रश्नोत्तरी, करी सु भाषा माहिं ॥
नंदलाल कहे चूक जो, कहँ सोधे बुध ताहिं ॥ १ ॥

क्रय्य पुस्तकें (नीति-ग्रन्थाः)।

नाम. कौ. रु. आ.

अफजलुलकानून–अर्थात् (राजपूतानेकी फौजदारीका कानून) १--१२

अक्षयनीतिसुधाकर–(श्रीमहाराजकुमार श्री १०८ अक्षयसिंहजी बनेडा मेवाडप्रणीत) राजप्रबन्ध अर्थात् किस रीतिसे राजाओंको वर्तमान समयमे नीतिसे वर्ताव करना चाहिये । इत्यादि राजनीतिका अपूर्व ग्रन्थ है । इस समयमें राजकुमारोंको अवश्य पढने योग्य है. २--०

उद्योगप्रारब्धविचार–भाग्यके भरोसे रहना या उद्यम कर कीर्ति प्राप्त करना इस विषयमें अनेक श्रुति-स्मृति-पुराण-न्याय-नीतिके, दृष्टान्तोंसहित सिद्धान्त दर्शाया है । एकवेर यह ग्रन्थ आद्यन्ततक सबको जरूर पढना चाहिये । पढते २ चोटी २ फटकने लगेगी । शीघ्र लीजिये. १--०

नाम. की. रु. आ.

कलाविलास--दुरंगी दुनियाका रंगढग जानना हो, यहाँ दो वहाँ जी बहलाना हो, चाडाकों, चोरों, व्यभिचारियों आदिसे बचना हो, अपने धन और धर्मकी रक्षा करना हो, संसारव्यवहारके भेदिये बनना हो तो इस १६०० कलाओंके भंडारको भी मंगा देखिये, ... १-०

कामन्दकीय नीतिसार--(महाभारतान्तर्गत) विद्यावारिधि पं० ज्वालाप्रसादजी मिश्रकृत भाषाटीकासमेत इसमें अच्छे २ नीतिके उपदेश दिखाये हैं। इस संग्राह्य पुस्तकका दाम भी थोडा रक्खा है ०-१२

कुण्डलियागिरधरदासकृत--(सामयिक नीति वेदान्त युक्त) अबकी बार दुगुनी होगई है ०-४

चाणक्यनीति--भाषाटीका दोहासहित। इसके देखनेसे मनुष्य नीतिकी उत्तम बातें जानसक्ते हैं. ०-१

ठहरो अर्थात् उपदेशदर्पण--इसमें २००० शिक्षित चुटकुले हैं ०-४